अथ नवमं काण्डम्

अथ विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मधुकशा

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वाऽमृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः॥ १॥

१. 'कशा' वाणी का नाम है। सारभूत मधुरज्ञान को 'मधु' कहा गया है। वेदवाणी मधुकशा है। यह सारभूत ज्ञान देनेवाली है। इस ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु-दर्शन करनेवाला 'अथर्वा' प्रथम दो सूक्तों का ऋषि है। यह **मधुकशा**=वेदवाणी **दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के हेतु से—इन सबका ज्ञान प्राप्त कराने के हेतु से **समुद्रात् अग्नेः वातात्**=समुद्र, अग्नि व वायु के हेतु से—इन सबका तात्त्विक ज्ञान देने के हेतु से **हि**=निश्चय से **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुई है। प्रभु इसका प्रकाश सब लोक-लोकान्तरों के ज्ञान के हेतु से करते हैं। २. **ताम्**=उस **अमृतं वसानाम्**=अमृतत्त्व (नीरोगता) को अपने द्वारा आच्छादित करनेवाली—नीरोगता प्राप्त करानेवाली वेदवाणी को **चायित्वा**=(चायृ पूजानिशामनयोः) सुनकर—इसके ज्ञान का श्रवण करके **सर्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति**=हृदयों से आनन्दित होती हैं। यह वेदवाणी हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

भावार्थ—यह वेदवाणी सब लोकों और लोकस्थ सब पदार्थों का ज्ञान देकर हमें नीरोगता व अमरता प्राप्त कराती है। यह हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्राण+अमृतम्

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम्॥ २॥

१. **अस्याः**=इस मधुकशा—वेदवाणी का **पयः**=ज्ञानदुग्ध **महत्**=महनीय—पूजनीय है और **विश्वरूपम्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला है **उत**=और हे मधुकशे! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(समुद्) उस आनन्दमय प्रभु का **रेतः आहुः**=रेतस् (वीर्य) कहते हैं। ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। सर्वज्ञ होने से वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं (knowledge is power)। २. **यतः**=जिधर से यह **मधुकशा**=वेदवाणी **रराणा**=ज्ञानोपदेश करती हुई—ज्ञान देती हुई **आ एति**=गति करती है, **तत्**=वह ज्ञान **प्राणः**=प्राणरूप होता हुआ, **तत्**=वह ज्ञान **अमृतम्**=अमृत (आरोग्य दाता) होता हुआ **निविष्टम्**=स्थापित होता है। वह वेदज्ञान प्राण व अमृतत्त्व को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—महनीय वेदज्ञान संसार के सब पदार्थों का निरूपण करता है। यह ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। जहाँ यह वेदज्ञान होता है, वहाँ प्राणशक्ति और नीरोगता का निवास होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पराऽनुष्टुप्**॥

वेदार्थ की बहुधा मीमांसा

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्रेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः॥ ३॥

१. **पृथक्**=अलग-अलग **बहुधा मीमांसमानाः**=नाना प्रकार से विचार करते हुए **नरः**=मनुष्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **अस्याः**=इस वेदवाणी के **चरितं पश्यन्ति**=विस्तार को—ज्ञान को देखते हैं (ऋ गतौ, गतिः ज्ञानम्)। कोई एक मनुष्य वेद के पूर्ण ज्ञान को देखनेवाला नहीं होता। किसी को किसी अर्थांश का स्पष्टीकरण होता है, किसी को किसी अन्य अर्थांश का। किसी ने आधिदैविक अर्थ को देखा तो किसी ने आधिभौतिक और तीसरे ने आध्यात्मिक अर्थ पर ही बल दिया। २. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **हि**=निश्चय से **अग्रेः वातात् जज्ञे**=अग्नि व वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से प्रादुर्भूत होती है। यह मधुकशा **मरुताम्**=प्राणसाधक पुरुषों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी, न गिरने देनेवाली शक्ति है (न पातयित्री)। प्राणसाधक पुरुष इस वेदज्ञान को प्राप्त करके उत्थान की ओर ही चलते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के विचारक इसके विविध अर्थों को देखनेवाले होते हैं। इस वेदवाणी द्वारा प्रभु अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान का प्रकाश करते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी बनाकर उन्हें उन्नत करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिरण्यवर्णा मधुकशा

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥ ४॥

१. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **आदित्यानां माता**=आदित्यों की—'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवालों की निर्मात्री है। इसका अध्येता सब ज्ञानों का अपने अन्दर उपादान करता है, क्योंकि यह सब विद्याओं का भण्डार तो है ही। यह **वसूनां दुहिता**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों की प्रपूरिका है—यह शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त करती है। यह वेदवाणी वस्तुतः **प्रजानां प्राणः**=प्रजाओं का प्राण ही है—सब प्रजाओं को प्राणशक्ति-सम्पन्न करती है। वेदवाणी हमें विलास से दूर करके विनाश से बचाती है। इसप्रकार यह **अमृतस्य नाभिः**=अमृत का केन्द्र है—हममें अमृतत्व को बाँधनेवाली है (णह् बन्धने)। २. **हिरण्यवर्णा**=हित-रमणीय ज्ञानों का वर्णन करनेवाली है, **घृताची**=मल-क्षरण व ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करानेवाली है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। यह मधुकशा महान् **भर्गः**=महनीय तेज है—महनीय प्रभु का प्रकाश है, यह **मर्त्येषु चरति**=मानवों के निमित्त—मानवमात्र के हित के लिए गतिवाली होती है। यह मधुकशा मनुष्य को ठीक ज्ञान देती हुई, कर्त्तव्य-मार्ग का दर्शन कराती हुई, उसका कल्याण करती है।

भावार्थ—वेदवाणी आदित्यों की माता है, वसुओं की दुहिता, प्रजाओं का प्राण व अमृत की नाभि है। यह हिरण्यवर्णा, घृताची, मधुकशा एक महान् तेज है, जो मानवमात्र के हित में प्रवृत्त है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जात+तरुण

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे॥ ५॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मधोः कशाम् अजनयन्त**=मधुविद्या की कशा (वेदवाणी) को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, इनके हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। **तस्याः**=उस वेदवाणी का **गर्भः**=ग्रहण **विश्वरूपः अभवत्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला होता है। २. **माता**=यह वेदमाता **तम्**=वेदवाणी के धारण करनेवाले **जातम्**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले तथा **तरुणम्**=वासनाओं को तैरनेवाले को **पिपर्ति**=पालित व पूरित करती है। वेद का धारण इस व्यक्ति को विकसित शक्तियोंवाला व वासनाओं को तैरनेवाला बनाता है। **सः**=वह **जातः**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला व्यक्ति **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब प्राणियों को देखता है—सबका ध्यान करता है।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्तियों के हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। इससे वे सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं। उनकी शक्तियों का विकास होता है। वे वासनाओं को तैरनेवाले होते हैं और सब प्राणियों का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

ब्रह्मा+सुमेधाः

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन्मदेत॥ ६॥

१. **यः**=जो व्यक्ति **अस्याः**=इस मधुकशा (वेदवाणी) के **हृदः**=सार का (The essence of anything) **कलशः**=घट बनता है, अर्थात् वेदवाणी के सार को धारण करता है, **सोमधानः**=सोमशक्ति को अपने में धारण करता है, **अक्षितः**=रोग आदि से क्षीण नहीं होता, वह **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **तं प्रवेद**=उस प्रभु को जानता है **उ**=और **कः**=वह विरल व्यक्ति ही **तं चिकेत**=(कित निवासे) उस प्रभु में निवास करता है। प्रभु के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि हम (क) वेदज्ञान को धारण करें, (ख) सोम को सुरक्षित करें, (ग) रोग आदि से शरीर को क्षीण न होने दें। २. यह 'नीरोग, वासनाशून्य हृदयवाला ज्ञानी' ही **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक ज्ञानी बनता है। **सः**=वह **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला ब्रह्मा **अस्मिन् मदेत**=इस वेदज्ञान में व प्रभु में आनन्दित होता है, रमण करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सार को धारण करनेवाला, सोम का रक्षण करनेवाला, अक्षीणशक्ति सुमेधा 'ब्रह्मा' ही वेदज्ञान व प्रभु में रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

'सहस्त्रधारौ अक्षितौ' स्तनौ

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्त्रधारावक्षितौ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ॥ ७॥

१. इस मधुकशा (वेदधेनु) के दो स्तन हैं। एक स्तन प्रकृति का ज्ञानदुग्ध देता है तो दूसरा आत्मतत्त्व का ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराता है। **यौ**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु के **स्तनौ**=ज्ञानदुग्ध देनेवाले स्तन हैं, वे **सहस्त्रधारौ**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं और **अक्षितौ**=हमें क्षीण न होने देनेवाले हैं। ये स्तन हममें **ऊर्जं दुहाते**=बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं तथा

अनपस्फुरन्तौ=(स्फुर सञ्चलने, not refusing to be milked) सदा ज्ञानदुग्ध देनेवाले हैं। २. **यः**=वह गतमन्त्र का 'सुमेधा ब्रह्मा' ही **तौ प्रवेद**=वेदधेनु के उन स्तनों को प्रकर्षेण जाननेवाला है, **उ**=और **सः**=वह ही **तौ चिकेत**=उनमें निवास करता है अथवा उनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदधेनु के दोनों स्तन हमें ज्ञान देकर हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करते हैं। वे हमें क्षीण नहीं होने देते, हममें बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं, सदा ज्ञानदुग्ध देते हैं। सुमेधा ब्रह्मा ही इन्हें जानता है और इनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भासंस्तारपङ्क्तिः**॥

हिंकरिक्रती—उच्चैर्घोषा

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाऽभ्येति या व्रतम्।
त्रीन्घर्मान्नभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ ८॥

१. **हिंकरिक्रती**=(हि गतिवृद्ध्योः) गति व वृद्धि करनेवाली यह वेदधेनु **बृहती**=वृद्धि का कारण बनती है और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करती है। **या**=जो यह **उच्चैः घोषा**=उच्च घोषवाली—यह वेदधेनु ज्ञान की वाणियों का गर्जन करनेवाली है, वह **व्रतम् अभि एति**=व्रतमय जीवनवाले पुरुष को प्राप्त होती है। व्रती पुरुष इस वेदधेनु को प्राप्त करता है। २. **त्रीन् घर्मान् अभिवावशाना**=जीवन के 'प्रातः, माध्यन्दिन व सायन्तन'—इन तीनों सवनों का लक्ष्य करके ज्ञान की वाणियों का प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी **मायुं मिमाती**=शब्द करती है तथा **पयोभिः पयते**=ज्ञानदुग्धों के साथ हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदधेनु व्रतमय जीवनवालों को ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराती है तथा ज्ञान-वाणियों के द्वारा ज्ञानदुग्ध देती हुई उनका वर्धन करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पराबृहतीप्रस्तारपङ्क्तिः**॥

शाक्वराः, वृषभाः, स्वराजः

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः॥ ९॥

१. **शाक्वराः**=शक्तिशाली, **वृषभाः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले **स्वराजः**=अपना शासन करनेवाले **आपः**=आप्त पुरुष **याम्**=जिस **आपीनाम्**=सर्वतः आप्यायित वेदधेनु के **उपसीदन्ति**=समीप उपस्थित होते हैं, उसके उपस्थान से **ते वर्षन्ति**=वे अपने में 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करते हैं और **ते**=वे वृषभ **तत् विदे**=उस वेदवाणी को जाननेवाले के लिए **कामम्**=आनन्द को **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **आपः**=ज्ञानजलों को **वर्षयन्ति**=सिक्त करते हैं, बरसाते हैं।

भावार्थ—हम आत्मशासन द्वारा अपने में शक्ति का सेचन करते हुए शक्तिशाली बनें। शक्तिशाली बनकर ज्ञानदुग्ध से भरपूर वेदधेनु का उपासन करें। यह उपासन हममें 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करनेवाला होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः**॥

ज्ञान+शक्ति (वाक् शुष्मम्)

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्रेवातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः॥ १०॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक्**=आपकी वाणी **स्तनयित्नुः**=मेघ-गर्जना के

समान है (हरिरेति कनिक्रदत्०), सबसे सुनने के योग्य है, परन्तु दौर्भाग्यवश सामान्यतः लोग इसे सुनते नहीं। **वृषा**=शक्तिशाली आप **भूम्याम्**=हमारे शरीरों में **शुष्मं अधिक्षपसि**=शक्ति प्रेरित करते हैं। २. **मधुकशा**=मधुरता से ज्ञान का उपदेश करनेवाली वेदवाणी **अग्नेः वातात् हि जज्ञे**=अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से ही प्रादुर्भूत की गई है। प्रभु ने इन पदार्थों को प्राप्त कराया है तथा वेदवाणी द्वारा इनका ज्ञान दिया है। यह वेदवाणी **मरुताम्**=प्राणसाधकों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी व न गिरने देनेवाली शक्ति है। वेदवाणी द्वारा ये प्राणसाधक सदा उत्थान के पद पर ही चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघ-गर्जना के समान है। उसे न सुनना हमारा दुर्भाग्य ही है। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और अग्नि, वायु आदि पदार्थों का वेदवाणी द्वारा ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी व उन्नत बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्विनोः, इन्द्राग्न्योः, ऋभूणाम्

यथा॒ सोम॑: प्रातःसव॒ने अ॒श्विनो॒र्भव॑ति प्रि॒यः।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम्॥ ११॥
यथा॒ सोमो॒ द्वितीये॒ सव॑न इन्द्रा॒ग्न्योर्भव॑ति प्रि॒यः।
ए॒वा म॑ इन्द्राग्नी॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम्॥ १२॥
यथा॒ सोम॑स्तृ॒तीये॒ सव॑न ऋभू॒णां भव॑ति प्रि॒यः।
ए॒वा म॑ ऋभवो॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम्॥ १३॥

१. जीवन में प्रथम २४ वर्ष ही जीवन-यज्ञ का प्रातःसवन है। **यथा**=जैसे इस **प्रातःसवने**=प्रातःसवन में **सोमः**=शरीर में रस, रुधिर आदि क्रम से उत्पन्न सोम **अश्विनोः**=प्राणापान के साधकों का **प्रियः भवति**=प्रिय होता है। सोमरक्षण से ही प्राणापान की शक्ति बढ़ती है और प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः ध्रियताम्**=ब्रह्मवर्चस्=ज्ञानप्रकाश का धारण किया जाए। हम जीवन के इस प्रथम आश्रम में प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण करते हुए ब्रह्मवर्चस्वाले बनें—ज्ञान संचय करें। २. जीवन के अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है। गृहस्थ का काल ही माध्यन्दिन सवन है। **यथा**=जैसे **द्वितीये सवने**=जीवन के द्वितीये (माध्यन्दिन) सवन में **सोमः**=सोम **इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति**=इन्द्र और अग्नि का प्रिय होता है, अर्थात् जितेन्द्रिय (इन्द्र) व प्रगतिशील (अग्नि) बनकर एक गृहस्थ भी सोम का रक्षण कर पाता है, **एव**=इसी प्रकार हे **इन्द्राग्नी**= जितेन्द्रियता व प्रगतिशीलता! **मे आत्मनि**=मेरे आत्मा में **वर्चः**=शक्ति **ध्रियताम्**=धारण की जाए। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर हम शक्तिशाली बने रहें। ३. जीवन के अन्तिम ४८ वर्ष जीवन का तृतीय सवन है। **यथा**=जैसे इस **तृतीये सवने**=तृतीय सवन में वानप्रस्थ व संन्यास में **सोमः ऋभूणां प्रियः भवति**=सोम ऋभुओं का (ऋतेन भान्ति, उरु भान्ति वा) प्रिय होता है। ये ऋभु वानप्रस्थ में नित्य स्वाध्याययुक्त होकर ज्ञान से खूब ही दीप्त होते हैं तथा संन्यास में पूर्ण सत्य का पालन करते हुए सत्य से देदीप्यमान होते हैं, **एव**=इसी प्रकार से **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व सत्यदीप्त व्यक्तियो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में भी वर्चस् का धारण किया जाए। ज्ञानदीप्ति व सत्यदीप्ति से मेरा जीवन भी दीप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन में प्रथमाश्रम में प्राणसाधना द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन करते हुए सोम का रक्षण करें। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर सोमी बनें तथा अन्त

में ज्ञान व सत्य से दीप्त बनकर सोम-रक्षण द्वारा वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

मधु जनिषीय, मधु वंशिषीय

मधु॑ जनिषीय॒ मधु॑ वंशिषीय। पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा॥ १४॥

१. **मधु जनिषीय**=मैं अपने जीवन में सोम का रक्षण करता हुआ वर्चस्वी बनकर मधु को ही प्रादुर्भूत करूँ, अर्थात् सदा मधुर शब्द ही बोलूँ, **मधु वंशिषीय**=मधु की ही याचना करूँ, अर्थात् मेरा स्वभाव मधुर ही हो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! मैं **पयस्वान्**=प्रशस्त ज्ञानदुग्धवाला व शक्तियों को बढ़ानेवाला होकर **आगमम्**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा संसृज**=वर्चस् से युक्त कीजिए। वर्चस्वी बनकर ही मैं मधुर बन पाऊँगा।

भावार्थ—मैं जीवन में मधुर शब्द ही बोलूँ, मधुरता की ही याचना करूँ। मैं शक्तियों को आप्यायित करके प्रभु को प्राप्त होऊँ, प्रभु मुझे वर्चस्वी बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर्चसा, प्रजया, आयुषा

सं मा॑ऽग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात्स॒ह ऋषि॑भिः॥ १५॥

१. इस मन्त्र की व्याख्या ७।९।३ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**१६ अनुष्टुप्, १७ उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

मधुकृतः, मक्षाः

यथा॒ मधु॑ मधुकृ॒तः॑ सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम्॥ १६॥
यथा॒ मक्षा॑ इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम्॥ १७॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **मधुकृतः**=भ्रमर **मधु**=मधुरस को **अधिसंभरन्ति**=आधिक्येन संग्रहीत करते हैं, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में वर्चस् का धारण किया जाए। २. **यथा**=जिस प्रकार **मक्षाः**=मधुमक्खियाँ **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **इदं मधु**=इस मधुरस को **अधिन्यञ्जन्ति**=(अञ्ज गतौ) आधिक्येन प्राप्त करती है, **एव**=इसी प्रकार **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः तेजः बलम् ओजः च**=ब्रह्मवर्चस्, तेज, बल और ओज **ध्रियताम्**=धारण किये जाएँ।

भावार्थ—जैसे भ्रमर और मधुमक्षिकाएँ थोड़ा-थोड़ा करके मधु का सञ्चय करती हैं, इसी प्रकार हम प्राणसाधना करते हुए 'वर्चस्, तेज, ओज व बल' को धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

माधुर्य

यद्गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑। सु॒रायां॒ सि॒च्यमा॑नायां॒ यत्तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑॥ १८॥

१. **यत्**=जो **मधु**=मधुररस—जीवनप्रद ओषधियों का रस **गिरिषु**=बड़े-बड़े पर्वतों में है, **यत्**=जो **पर्वतेषु**=छोटे पर्वतों पर ओषधियों व फलों का रस है, **यत् मधु**=जो मधुरस **गोषु अश्वेषु**=गौओं में मधुर दूध का तथा तीव्र वेगवाले घोड़ों में जो विजय-लक्ष्मी का मधुर आनन्द

है, इसी प्रकार **सिच्यमानायाम्**=पृथिवी पर मेघों से सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=वृष्टिजल में **यत्**=जो **तत्र मधु**=वहाँ मधु है, **तत् मयि**=वह मधु मुझमें भी हो।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्वतों की ओषधियों में मधुर रस है, जैसे गोदुग्ध में मधुरता है, घोड़े की तीव्र गति में जो विजय-लक्ष्मी का मधु है तथा मेघ-सिक्त वृष्टिजल में जो माधुर्य है, वही माधुर्य मेरी वाणी में भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सारघेण मधुना

अश्विना सारघेणा मा मधुनाऽङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ १९॥

१. हे **शुभस्पती**=हमारे जीवनों में शुभ का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=(सारं धारयति संग्राहयति) सार को प्राप्त करानेवाले मधुर ज्ञान से **अंक्तम्**=अलंकृत कीजिए अथवा मधुमक्षिकाओं से संगृहीत (सारघ) मधु से अलंकृत कीजिए। **यथा**=जिससे **जनान् अनु**=लोगों के प्रति **वर्चस्वतीं वाचम् आवदानि**=तेजस्विनी वाणी को बोलूँ। मेरी वाणी में भी वैसा ही माधुर्य हो जैसाकि 'सारघ मधु' में है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा ज्ञानी बनकर मैं मधुर व तेजस्विनी वाणी ही बोलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**भुरिक्विष्टारपङ्क्तिः**॥

इषम्, ऊर्जम्

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥ २०॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक् स्तनयित्नुः**=आपकी वाणी मेघगर्जन के समान गम्भीर है। आप **वृषा**=समस्त सुखों के वर्षक हो। **भूम्याम्**=इस भूमि पर **दिवि**=तथा द्युलोक में आप **शुष्मं क्षिपसि**=बल को प्रेरित करते हैं। शरीर (भूमि) तथा मस्तिष्क (द्युलोक) को आप सबल बनाते हैं। २. **ताम्**=आपकी उस वाणी को ही आधार बनाकर **सर्वे पशवः उपजीवन्ति**=सब तत्त्वद्रष्टा (पश्यन्ति इति पशवः) जीवित होते हैं—अपने जीवन का आधार उस वाणी को ही बनाते हैं। **तेन उ**=उस जीवन को देने के हेतु से ही **सा**=वह वाणी **इषम्**=मस्तिष्क में सत्कर्म की प्रेरणा को तथा शरीर में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पिपर्ति**=पूरित करती है। इस शक्ति के द्वारा ही हम उस प्रेरणा को अपने जीवन का अङ्ग बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघगर्जन के समान है। वे सुखवर्षक प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर को सबल बनाते हैं। सब तत्त्वद्रष्टा प्रभु की वाणी को ही अपने जीवन का आधार बनाते हैं। यह वाणी मस्तिष्क में प्रेरणा और शरीर में शक्ति को पूरित करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्(एकावसाना)**॥

पृथिवी दण्डः, हिरण्ययो बिन्दुः

पृथिवी दण्डोऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत्प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः॥ २१॥

१. गतमन्त्र में कथित प्रजापति का **पृथिवी दण्डः**=पृथिवी दमन स्थान है (दमनात् दण्डः)। सब प्राणी अपना कर्मफल भोगने के लिए पृथिवी पर ही आते हैं। **अन्तरिक्षं गर्भः**=अन्तरिक्ष प्रजापति का गर्भ है। इसमें ही सब लोक स्थित हैं, **द्यौः कशा**=द्युलोक सूर्य द्वारा सबको कर्मों में प्रेरित करता है। सूर्य-किरणें ही प्रजापति के हाथ हैं, उनसे वह सबको जगाता-सा है (कशा

चाबुक)। २. **विद्युत् प्रकशः**=विद्युत् उस प्रभु की प्रकृष्ट ध्वनि है (कश् to sound)। विद्युत् गर्जन मनुष्य को विद्युत् के समान ही शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दे रहा है। **हिरण्ययः बिन्दुः**=तैजस् सूर्य आदि उस प्रभु के वीर्य-बिन्दु के समान हैं। ये हमें यही तो प्रेरणा कर रहे हैं कि तुम इस बिन्दु (वीर्य) के रक्षण से ही हिरण्यय=ज्योतिर्मय बनोगे।

भावार्थ—यह पृथिवी प्रजापति का दमन स्थान है, अन्तरिक्ष सब लोकों का आधार (गर्भरूप) है, द्युलोक सूर्यप्रकाश द्वारा कर्म का प्रेरक है। विद्युत् अपने समान प्रकाशमय बनने की प्रेरणा दे रही है और ज्योतिर्मय पदार्थ प्रभु के वीर्य-बिन्दु हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाब्राह्मीपुरउष्णिक्**॥

सप्त मधूनि

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान्भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्॥ २२॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **कशायाः**=वेदवाणी के—वेद में प्रतिपादित **सप्त**=सात **मधुनि**=मधुओं को **वेद**=जानता है, वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त मधुवाला—अत्यन्त मधुर जीवनवाला होता है। २. वेदवाणी के सात मधु ये हैं—**ब्राह्मणः च राजा च**=ब्राह्मण और राजा, अर्थात् ब्रह्म और क्षत्र। मनुष्य को ब्रह्म और क्षत्र दोनों का जीवन में समन्वय करके श्रीसम्पन्न बनना है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'। **धेनुः च अनड्वान् च**=गौ और बैल। गौ इसे अमृतमय दूध देकर अमृत जीवनवाला बनाती है तो बैल इसके अन्नादि की उत्पत्ति का साधन बनता है। **व्रीहिः च यवः च**=चावल और जौ। चावल इसके शरीरस्थ रोगों को दूर करते हैं और जौ इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाते हैं—'**यवे ह प्राण आहितः, अपानो व्रीहिराहितः**' इन छह के बाद **सप्तमम्**=सातवाँ **मधु**=शहद है। यह स्थूलता और कृशता को दूर करता हुआ वास्तव में ही जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रतिपादित सात मधुओं का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपनाकर हम जीवन को मधुमान् बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

मधुमान्

मधुमान्भवति मधुमदस्याहार्यं भवति। मधुमतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ २३॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार वेदवाणी के सप्त मधुओं को जान लेता है वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त माधुर्यवाला होता है। **अस्य आहार्यं मधुमत् भवति**=इसका भोजन भी अत्यन्त मधुरता को लिये हुए होता है। यह कटु-तिक्त वस्तुओं का प्रयोग नहीं करता रहता। यह **मधुमतः लोकान् जयति**=माधुर्यवाले लोकों को जीतता है—आनन्दप्रद लोकों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सात मधुओं को जानकर उनका ठीक प्रयोग व व्यवहार करता हुआ साधक मधुर जीवनवाला, मधुर आहारवाला व मधुमान् लोकों का विजेता होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**षट्पदाऽष्टिः**॥

प्रभु के प्रति प्रीति

यद्वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत्प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
तस्मात्प्राचीनोपवीतस्तिष्ठेत् प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद॥ २४॥

१. **यत्**=जब **वीध्रे**=(वि इन्ध) विगत दीप्तिवाले अन्तरिक्ष में **स्तनयति**=गर्जना होती है तब **तत् प्रजापतिः एव**=वह प्रजापालक प्रभु ही **प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति**=प्रजाओं के लिए प्रादुर्भूत हो जाता है—मेघगर्जना में प्रभु की महिमा ही प्रकट होती है। **तस्मात्**=उसी कारण से **प्राचीनोपवीतः**=(प्राचीन, उप वि=कान्ति) इस सनातन प्रभु के प्रति प्रीतिवाला (कामनावाला) मैं स्थित होता हूँ। २. **प्रजापते**=हे प्रजापालक प्रभो! **मा अनु बुध्यस्व**=मुझपर अनुग्रह कीजिए, **इति**=यही मेरी आराधना है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार मेघगर्जना आदि में प्रभु की महिमा का अनुभव करता है, **एनम्**=इसे **प्रजाः अनु**=अनुकूलतावाली प्रजाएँ प्राप्त होती हैं तथा इसपर **प्रजापतिः अनुबुध्यते**=प्रजापति प्रभु अनुग्रहवाले होते हैं।

भावार्थ—हम मेघगर्जना आदि प्रकृतिक घटनाओं में प्रभु की महिमा का अनुभव करते हुए प्रभु के प्रति प्रीतिवाले हों। ऐसा होने पर हमें अनुकूल प्रजाएँ प्राप्त होंगी और प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होगा।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतेन हविषा आज्येन

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान्मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण॥ १॥

१. **सपत्नहनम्**=शत्रुओं के विनाशक **ऋषभम्**=शक्तिशाली **कामम्**=कमनीय (कामना के योग्य) प्रभु को **घृतने**=मलों का क्षरण व ज्ञानदीप्ति से, **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **आज्येन**=(to honour, celebrate) भक्तिपूर्वक आदृत करने से **शिक्षामि**=प्राप्त करने के लिए मैं यत्नशील होता हूँ। २. हे प्रभो! **अभिष्टुतः त्वम्**=प्रातः-सायं मेरे द्वारा स्तुत होते हुए आप **महता वीर्येण**=महान् पराक्रम के साथ **मम सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः पादय**=पादाक्रान्त कर दीजिए (नीचे पहुँचा दीजिए)।

भावार्थ—हम 'मलों को दूर करने, ज्ञान प्राप्त करने, दानपूर्वक अदन तथा भक्तिपूर्वक स्मरण' करने के द्वारा प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करने के लिए हमें महान् पराक्रमवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्तवन द्वारा उत्थान

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुःष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **मे मनसः न प्रियम्**=मेरे मन का प्रिय नहीं, **न चक्षुषः**=न आँख का प्रिय है, **यत् मे बभस्ति**=जो मेरा भर्त्सन-सा करता है **न अभिनन्दति**=कुछ आनन्दित नहीं करता **तत्**=उस **दुःष्वप्नयम्**=दुष्ट स्वप्न के कारणभूत पाप को मैं **सपत्ने प्रतिमुञ्चामि**=अपने शत्रुओं के प्रति छोड़ता हूँ, अर्थात् ऐसी अशुभ वृत्तियाँ शत्रुओं को ही प्राप्त हों। २. **अहम्**=मैं तो **कामं स्तुत्वा**=उस कमनीय प्रभु का स्तवन करके **उत् भिदेयम्**=शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ ऊपर उठूँ।

भावार्थ—अप्रिय पाप हमें सतानेवाले न हों। वे शत्रुओं को ही प्राप्त हों। मैं प्रभु-स्तवन करता हुआ ऊपर-ही-ऊपर उठता चलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अशुभ चाहनेवाले की दुर्गति

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन्यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥ ३॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों की कारणभूत आपत्तियों को **च**=और **काम**=हे चाहने योग्य प्रभो! **दुरितम्**=दुर्गति व दुराचरण को **अप्रजस्ताम्**=प्रजाराहित्य (सन्तानहीनता) को, **अस्वगताम्**=निर्धनता की प्राप्ति व **अवर्तिम्**=वृत्ति के अभाव (निर्जिविका) को **उग्रः**=तेजस्वी व **ईशानः**=सबके स्वामी होते हुए आप **तस्मिन् प्रति मुञ्च**=उस व्यक्ति में छोड़िए, **यः**=जो **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अंहूरणा**=पाप कर्मों को **चिकित्सात्**=चाहे (कित इच्छायाम्)।

भावार्थ—हे प्रभो! वही व्यक्ति दुर्गति में पड़े जो औरों के लिए अशुभ की कामना करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शत्रुत्व का दण्ड

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **ये मम सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं, उन्हें **नुदस्व**=धकेलिए, **प्रणुदस्व**=खूब ही दूर धकेल दीजिए। हे **काम**=कमनीय प्रभो! वे **अवर्तिं यन्तु**=निर्जीविका (दरिद्रता) की स्थिति को प्राप्त हों, **अधमा तमांसि**=घने अँधेरे में **नुत्तानाम्**=धकेले हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=घरों को हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **निर्दह**=भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—हे कमनीय प्रभो! औरों से शत्रुता करनेवाले लोग समाज से पृथक् कर दिये जाएँ। ये अवर्ति (दरिद्रता), अन्धकार व गृहशून्यता (बेघरबारी) को प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

दुहिता 'धेनुः'

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।
तया सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ ५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **सा**=वह **ते**=आपकी **धेनुः**=वेदधेनु—ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणी **दुहिता**=सब कामनाओं का प्रपूरण करनेवाली **उच्यते**=कही जाती है। **यां वाचम्**=जिस वेदवाणी को **कवयः**=ज्ञानी लोग **विराजम् आहुः**=विशिष्ट दीप्तिवाला कहते हैं, **तया**=उस वेद-वाणी द्वारा **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान् परिवृङ्ग्धि**=शत्रुओं को दूर कीजिए। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण **पशवः**=गौ (पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ तथा **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ। इन शत्रुत्व की वृत्तिवालों की 'प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ व जीवन-शक्ति' नष्ट हो जाए।

भावार्थ—शत्रुत्व की वृत्तिवाले व्यक्ति वेदवाणी से, प्राण, पशुओं व जीवन से पृथक् हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुपूजन व अग्निहोत्र

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः॥ ६॥

१. **कामस्य**=कमनीय, **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक, **वरुणस्य**=पापनिवारक **राज्ञः**=दीप्त **विष्णोः**=

व्यापक प्रभु के **बलेन**=बल से **सवितुः**=प्रेरक प्रभु के **सवेन**=(यज्ञेन, यज पूजायाम्) पूजने से तथा **अग्नेः होत्रेण**=अग्निहोत्र के द्वारा **सपत्नान् प्रणुदे**=शत्रुओं को इसप्रकार से धकेलता हूँ, **इव**=जैसेकि **धीरः शम्बी**=एक धीर (धैर्य की वृत्तिवाला, समझदार) नाविक **उदकेषु नावम्**=जलों में नाव को प्रेरित करता है।

भावार्थ—पाप-निवारक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर प्रभु का पूजन व अग्निहोत्र करते हुए हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'वाजी उग्रः' कामः

अध्यक्षो वाजी मम कामं उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव।
विश्वेदेवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम्॥ ७॥

१. **मम**=मेरे **अध्यक्षः**=सब कामों का द्रष्टा प्रभु **वाजी**=शक्तिशाली है, **कामः**=कमनीय है, **उग्रः**=शत्रुओं के लिए भयंकर है। ये प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम्**=शत्रुराहित्य को **एव**=ही **कृणोतु**=करें। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनकर मैं 'काम-क्रोधादि' सब शत्रुओं को कुचलनेवाला बनूँ। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **मम नाथं भवन्तु**=मेरे रक्षक व मेरा ऐश्वर्य हों। काम के विनाश के लिए मेरा जीवन पवित्र प्रेम से परिपूर्ण हो, क्रोधविनाश से मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो। लोभ को नष्ट करके मैं त्याग की वृत्तिवाला बनूँ। ऐसा होने पर **सर्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **मे इमं हवम्**=मेरी इस पुकार को सुनकर **आयन्तु**=मुझे प्राप्त हों। देवों का सम्पर्क मुझे भी देव बनाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं शक्ति-सम्पन्न (वाजी, उग्र) बनकर 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट करूँ। इन्हें विनष्ट करके मैं 'प्रेम, करुणा व त्याग' को अपनाऊँ। देवों के सम्पर्क में मैं देव बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

'घृतवृत् आज्यं' जुषाणः

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्। कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव॥ ८॥

१. **इदम्**=इस **घृतवत्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से युक्त **आज्यम्**=(to honour) प्रभुपूजन को **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **कामज्येष्ठाः**=उस कमनीय प्रभु को सबसे ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) मानते हुए देवो! **इह**=यहाँ—हमारे घर पर **मादयध्वम्**=आप आनन्दित होओ। हमारे आतिथ्य से ये देव प्रसन्न हों। २. ये देव ज्ञान देकर तथा अपने जीवन का उदाहरण उपस्थित करके **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम् एव**=शत्रुराहित्य को ही **कृण्वन्तः**=करनेवाले हों। इन देवों का अनुकरण करता हुआ मैं भी देव बनूँ—'काम-क्रोध-लोभ' का विजेता बनूँ (दिव् विजिगीषायाम्)।

भावार्थ—देव वे होते हैं जोकि मलों को दूर करते हुए तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हुए प्रभु का उपासन करते हैं और कमनीय प्रभु को ही ज्येष्ठ मानते हैं। इन देवों का सम्पर्क मुझे भी 'काम, क्रोध व लोभ' से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रकाश+पराक्रम

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान्मम पादयाथः।
तेषां पन्नामधमा तमांस्यग्रे वास्तून्यनुनिर्दहं त्वम्॥ ९॥

१. 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देवो! हे **काम**= कमनीय प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सरथं भूत्वा**=मेरे साथ इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर **मम**=मेरे **सपत्नान्**=शत्रुओं को **नीचैः पादयाथः**=नीचे गिरा देते हो। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अधमा तमांसि**=निकृष्ट अन्धकारों में **पन्नानाम्**=प्राप्त हुए-हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=निवास-स्थानों को **त्वम्**=आप **अनुनिर्दह**=अनुक्रम से विदग्ध कर दीजिए, अर्थात् प्रभुकृपा से काम-क्रोध की उत्पत्ति के कारण भी विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—कमनीय प्रभु की कृपा से हम प्रकाश व पराक्रम को प्राप्त करके काम व क्रोध को तथा उनके उत्पत्ति-कारणों को विनष्ट करके प्रेम व करुणा से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'निरिन्द्रियाः, अरसाः' सपत्नाः

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥ १०॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **मम ये सपत्नाः**=मेरे जो शत्रु हैं, **एनान्**=इन शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर दीजिए और **अन्धा तमांसित अवपादय**=इन्हें घने अँधेरे में नीचे पहुँचा दीजिए। २. **ते सर्वे**=वे सब शत्रु **निरिन्द्रियाः**=निर्वीर्य व **अरसाः**=रसहीन—मृतप्राय **सन्तु**=हो जाएँ। वे **कतमत् चन आहः**=कुछ भी दिन **मा जीविषुः**=न जीएँ, अर्थात् मैं शीघ्र ही उन्हें विनष्ट कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँ। हम उन्हें क्षीण करके विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'उरु एधतु' लोक

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु॥ ११॥

१. **कामः**=वे कमनीय प्रभु उन्हें **अवधीत्**=नष्ट कर दें, **मम ये सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं। मेरे काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं को नष्ट करके प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **एधतुम्**=वृद्धि के कारणभूत **उरुं लोकम्**=विशाल प्रकाश को **अकरत्**=करें। २. इन शत्रुओं का विजय कर लेने पर **चतस्रः प्रदिशः**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण (प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा) ये चारों प्रधान दिशाएँ **मह्यं नमन्ताम्**=मेरे लिए झुक जाएँ। मैं चारों दिशाओं का अधिष्ठाता बनूँ—आगे बढ़ूँ (प्राची), इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करूँ (प्रतीची) ऊपर उठूँ (उदीची) और निपुण बनूँ (दक्षिणा)। **मह्यम्**=मेरे लिए **षट् उर्वीः**=आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी, ऐशानी, ध्रुवा व ऊर्ध्वा' नाम्नी छह विशाल दिशाएँ **घृतम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति को **आवहन्तु**=सब ओर से प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरे शत्रु नष्ट हों। वृद्धि का कारणभूत प्रकाश मुझे प्राप्त हो। सब दिशाएँ मेरे लिए झुक जाएँ—मैं चतुर्दिग्विजय प्राप्त करूँ। सब ओर से मलों को नष्ट करता हुआ मैं ज्ञानदीप्ति प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुविद्रावण

ते ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्॥ १२॥

१. **ते**=वे हमारे शत्रु **अधराञ्चः**=निम्न गतिवाले होकर **प्रप्लवन्ताम्**=उसी प्रकार बह जाएँ, **इव**=जैसेकि **बन्धनात्**=बन्धन से **छिन्ना**=छिन्न हुई-हुई **नौः**=नाव बह जाती है। **सायक-प्रणुत्तानाम्**=बाणों के द्वारा दूर प्रेरित किये हुए इन शत्रुओं का **पुनः**=फिर **निवर्तनं न अस्ति**=लौटना नहीं है।

भावार्थ—दुर्गति को प्राप्त शत्रु बन्धन से छिन्न नौका की भाँति बह जाएँ। बाणों के द्वारा परे धकेले शत्रु फिर लौटने का नाम न लें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥

'अग्नि, इन्द्र, सोम'=यव

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम्॥ १३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यवः**=यव हैं—वे हमसे बुराइयों को पृथक् करनेवाले हैं। **इन्द्रः यवः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु हमसे बुराइयों को दूर करते हैं। **सोमः यवः**=सोम (शान्त) प्रभु बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। हम आगे बढ़ने की भावनावाले (अग्नि), जितेन्द्रिय (इन्द्र) व शान्त=विनीत (सोम) बनें। ऐसा बनकर ही हम सब बुराइयों को अपने से दूर कर पाएँगे। २. **देवाः**=माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **ययवावानः**=(यवाः च यावानः च) बुराइयों को पृथक् करनेवाले व शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं (या गतौ)। **एनम्**=इस अपने उपासक को ये देव **यावयन्तु**=सब शत्रुओं से पृथक् करें।

भावार्थ—हम 'अग्नि, इन्द्र व सोम' इन नामों से प्रभु-स्मरण करते हुए आगे बढ़ें, जितेन्द्रिय बनें व शान्त वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम बुराइयों को अपने से पृथक् कर पाएँगे। माता-पिता, आचार्य व अतिथियों का सान्निध्य हमें शत्रुओं को दूर भगाने में सशक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

द्वेष्यः मित्राणां, परिवर्ग्यः स्वानाम्

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यो१ः स्वानाम्।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत्सपत्नान्॥ १४॥

१. हमारा शत्रु **असर्ववीरः**=सब वीरों से रहित हुआ-हुआ **प्रणुत्तः**=परे धकेला हुआ **चरतु**=इधर-उधर भटके। यह **मित्राणां द्वेष्यः**=सब मित्रों का द्वेष्य (अप्रीति योग्य) हो जाए। **स्वानां परिवर्ग्यः**=अपनों का छोड़ने योग्य हो जाए, अर्थात् अपने लोग भी इसे छोड़ जाएँ। २. **उत**=और **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तिवाले अस्त्र हमारे शत्रुओं का **अवस्यन्ति**=अन्त कर देते हैं। वह **उग्रः देवः**=शत्रुभयंकर विजेता प्रभु **वः**=तुम्हारे **सपत्नान् प्रमृणत्**=शत्रुओं को कुचल डाले।

भावार्थ—हमारे शत्रु वीरों से रहित, मित्रों के द्वेष्य व अपनों से छोड़ने योग्य हों। हमारे दीप्त अस्त्र उनका अन्त करें और प्रभु उन्हें कुचल देने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सहस्वान् आदित्यः

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद्बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान्।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान्नुदतां मे सहस्वान्॥ १५॥

१. **इयं बृहती**=सब वृद्धियों की साधनभूत यह **विद्युत्**=विशिष्ट दीप्तिवाली ब्रह्मशक्ति **च्युता च अच्युता च**=(च्युङ् गतौ) गतिमय व स्थिर—चराचर सब पदार्थों को **च**=तथा **सर्वान्**

स्तनयित्नून्=गर्जना करनेवाले सब मेघादि को **बिभर्ति**=धारण करती है। २. **उद्यन्**=मेरे हृदयाकाश में उदित होता हुआ **आदित्यः**=सूर्यसम दीप्त **सहस्वान्**=बलवान् प्रभु **द्रविणेन**=बल (नि० २.९) व **तेजसा**=तेज से **मे सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः नुदताम्**=नीचे धकेल दे।

भावार्थ—दीप्त ब्रह्मशक्ति ही चराचर जगत् को व गर्जना करते हुए मेघादि को धारित करती है। हृदयाकाश में उदित प्रभु बल व तेज प्राप्त कराके मुझे मेरे शत्रुओं को विनष्ट करने में समर्थ करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाशक्वरीगर्भापराजगती**॥

ब्रह्म वर्म

यत्ते॑ काम॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थमु॒द्बु ब्रह्म॒ वर्म॒ वित॑तमनति॒व्याध्यं ⌡ कृ॒तम्।
तेन॑ स॒पत्ना॒न्परि॑ वृङ्ग्धि॒ ये मम॒ पर्ये॑नान्प्रा॒णः प॒शवो॒ जीव॑नं वृणक्तु॥ १६॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **शर्म**=सुखद **त्रिवरूथम्**='शरीर, मन व बुद्धि' को रक्षित करनेवाला **उद्बु**=उत्तम शक्तिसम्पन्न **ब्रह्म**=ज्ञान है, वह **विततम्**=विस्तृत **अनतिव्याध्यम्**=न वेधने योग्य **वर्म कृतम्**=कवच बनाया गया है। आपका दिया हुआ ज्ञान मेरा कवच बना है। इस कवच को काम-क्रोधादि शत्रु विद्ध नहीं कर सकते। २. **तेन**=उस वेदवाणीरूप कवच से **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान्**=शत्रुओं को **परिवृङ्ग्धि**=दूर हटा दीजिए। **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण, **पशवः**=(पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ, **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेदवाणी वह कवच है, जिसे काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं किया जा सकता। इस कवच से मैं शत्रुओं को दूर करूँ। इन शत्रुओं को प्राण, इन्द्रियाँ व जीवन छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

देव+इन्द्र

येन॑ दे॒वा अ॑सु॒रान्प्रा॑णु॒दन्त॒ येनेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ नि॒नाय॑।
तेन॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्तान॒स्माल्लो॒कात्प्र णु॑दस्व दू॒रम्॥ १७॥

१. **येन**=जिस बल से **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **असुरान् प्राणुदन्त**=आसुरभावों को अपने से दूर धकेल देते हैं, **येन**=जिस बल से **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दस्यून्**='काम-क्रोध-लोभ' रूप विनाशक वृत्तियों को **अधमं तमः निनाय**=घने अँधेरे में पहुँचा देता है, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तेन**=उस बल से **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दो, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—हम 'देव व इन्द्र'=दिव्यवृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर आसुर व दास्यव भावों को—अपने ही पोषण (आसुर) व दूसरों के विनाश (दस्यु) के भावों को अपने से दूर धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

असुर व दस्यु-विनाश

यथा॑ दे॒वा अ॑सु॒रान्प्रा॑णु॒दन्त॒ यथेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ बबा॒धे।
तथा॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्तान॒स्माल्लो॒कात्प्र णु॑दस्व दू॒रम्॥ १८॥

१. **यथा**=जैसे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **असुरान्**=आसुरभावों को—अपने ही प्राणपोषण,

अर्थात् स्वार्थ के भावों को **प्राणुदन्त**=परे धकेल दिया। **यथा**=जिस प्रकार **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष ने **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को—औरों के विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ आदि) को **अधमं तमः बबाधे**=घने अँधेरे में पहुँचा दिया, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तथा**=उसी प्रकार **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दें, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार देव स्वार्थ के भावों से ऊपर उठते हैं, जिस प्रकार एक जितेन्द्रिय पुरुष विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ) से दूर रहता है, उसी प्रकार प्रभुकृपा से मैं उन असुरों व दस्युओं को अपने से दूर कर पाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रथम' प्रभु

कामो॑ जज्ञे प्रथ॒मो नैन॑ं दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्या॑ः।
तत॒स्त्वमसि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ १९॥

१. **कामः**=वह कमनीय प्रभु **प्रथमः जज्ञे**=सबसे पूर्व प्रादुर्भूत हुए-हुए हैं—वे सबसे प्रथम स्थान पर हैं, अग्रि हैं—अग्रणी। प्रभु सब गुणों की चरम सीमा ही तो हैं, अतः वे प्रथम हैं। श्रेष्ठता में **एनम्**=इस प्रभु को **न**=न तो **देवाः**=देव (ज्ञानी ब्राह्मण) **आपुः**=प्राप्त कर पाते हैं, **न पितरः मर्त्याः**=न ही रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त पितर (क्षत्रिय) तथा धन-धान्यादि के अर्जन में प्रवृत्त मनुष्य (वैश्य) पा सकते हैं। २. **ततः**=इसप्रकार हे प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=सबसे अधिक प्रशस्य **असि**=हैं, **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय हैं। हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ—मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रथम हैं। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य भी प्रभु के समान नहीं। उस सदा प्रशस्त व महान् के लिए मैं नतमस्तक होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**२० भुरिक्त्रिष्टुप्, २१ जगती**॥

'महान्' प्रभु

याव॑ती॒ द्यावा॑पृथि॒वी व॑रि॒म्णा याव॒दाप॑ः सिष्य॒दुर्याव॑द॒ग्निः।
तत॒स्त्वमसि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ २०॥
याव॑ती॒र्दिश॑ः प्र॒दिशो॒ विषू॑ची॒र्याव॑ती॒राशा॑ अभि॒चक्ष॑णा दि॒वः।
तत॒स्त्वमसि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ २१॥

१. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **वरिम्णा**=विस्तार से **यावती**=जितने बड़े हैं, **यावत्**=जितनी भी दूर तक **आपः सिष्यदुः**=ये जल बह रहे हैं, **यावत्**=जितनी यह **अग्निः**=अग्नि विस्तृत है, **यावतीः**=जितनी दूर तक **विषूचीः**=(वि सु अञ्च) चारों ओर फैलनेवाली **दिशः प्रदिशः**=ये दिशाएँ व उपदिशाएँ फैली हैं, **यावतीः**=जितनी दूर तक **दिवः अभिचक्षणाः**=द्युलोक के प्रकाश को प्रकट करनेवाली **आशाः**=ये दिशाएँ हैं, २. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ततः**=उनसे **ज्यायान् असि**=अधिक बड़े हैं। **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय व पूजनीय हैं, **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा 'द्यावापृथिवी, जल, अग्नि, दिशा-प्रदिशाओं' से महान् है। उस महान् प्रभु के लिए हम सदा प्रणाम करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—२२ जगती, २३ भुरिक्त्रिष्टुप्, २४ त्रिष्टुप्॥

ज्यायान् प्रभु

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २२॥
ज्यायान्निमिषतो ऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २३॥
न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २४॥

१. **यावतीः**=जितने भी **भृङ्गाः**=भौंरे, **जत्वः**=चमगादड़, **कुरूरवः**=चीलें हैं, **यावतीः**=जितने भी **वघाः**=टिड्डी आदि जन्तु हैं, जितने भी **वृक्षसर्प्यः**=वृक्षों पर सरकनेवाले कीट **बभूवुः**=हैं—उन सबकी सम्मिलित शक्ति से भी आप महान् हैं। हे **काम**=कमनीय **मन्यो**=ज्ञानस्वरूप प्रभो! आप **निमिषतः**=आँखों को बन्द किये हुए—निमेषोन्मेष के व्यापारवाले जीवों से **ज्यायान्**=बड़े हो, **तिष्ठतः**=इन खड़े हुए वानस्पतिक जगत् से आप बड़े हो, **समुद्रात्**=इन समुद्रों से भी अथवा अन्तरिक्ष से भी आप **ज्यायान्**=बड़े हो। ३. **न वै**=निश्चय से न ही **वातः चन**=यह वायु भी **कामम् आप्नोति**=उस कमनीय प्रभु को व्याप्त कर पाता है, **न अग्निः**=न अग्नि उस प्रभु की महिमा को व्यापता है, **सूर्यः**=सूर्य भी नहीं व्यापता **उत**=और **न चन्द्रमाः**=न चन्द्रमा ही उस प्रभु की महिमा को व्याप सकता है। **ततः**=उन वायु, अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा से हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=बड़े हो। **विश्वहा महान्**=सदा महनीय (पूजनीय) हो। **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को सारे 'भृंग व कृमि—कीट-पतङ्ग' नहीं व्याप सकते। वे प्रभु चराचर जगत् व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष से महान् हैं। वायु, अग्नि, व चन्द्र में ही प्रभु की महिमा समाप्त नहीं हो जाती। प्रभु इन सबसे महान् हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शिवाः (भद्राः) बनाम (Vs) पापीः (धियः)

यास्ते शिवास्तन्व ऽः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ २५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपके **शिवाः भद्राः तन्वः**=शुभ, कल्याणकारी शक्ति-विस्तार हैं, **याभिः**=जिन शक्ति-विस्तारों से **यत्**=जो **सत्यं भवति**=सत्य होता है, उसी का **वृणीषे**=आप वरण करते हैं, **ताभिः**=उन शक्ति-विस्तारों से **त्वम्**=आप **अस्मान् अभिसंविशस्व**=हमें प्राप्त होओ। **पापीः धियः**=पापमय बुद्धियों को—विचारों को अन्यत्र **अपवेशय**=हमसे दूर अन्य स्थानों पर ही रखिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'भद्र व शिव' शक्तियों को प्राप्त करें, पापमय विचार हमसे दूर रहें।

विशेष—इन शुभ विचारों को ग्रहण करानेवाला 'भृगु' बनता है। ज्ञानपरिपक्व होकर यह पाप-विचारों को अपने समीप नहीं आने देता। इसी से यह अङ्गिरा भी होता है—अङ्ग-अङ्ग में रसवाला। यह किस प्रकार एक सुन्दर गृह का निर्माण करता है। इस विषय का वर्णन अगले सूक्त में देखिए—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्ववारा शाला

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत। शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥ १॥

१. **विश्ववारायाः**=(वार=द्वार व वरणीय पदार्थ) सब ओर द्वारोंवाली व वरणीय पदार्थोंवाली **शालायाः**=शाला की **उपमिताम्**=उपमायुक्त (देखने में सराहने योग्य) **प्रतिमिताम्**=प्रतिमानयुक्त (जिसके आमने-सामने की भीतें, द्वार, खिड़की आदि एक नाप में हों) **अथो**=और **परिमिताम्**=परिमाणयुक्त (चारों ओर से नापकर चौरस की हुई) बनावट को **उत**=और **नद्धानि**=बन्धनों को (चिनाई व काष्ठ आदि के मेलों को) **विचृतामसि**=हम अच्छी प्रकार ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम गृह को 'उपमित, प्रतिमित व परिमित' बनाने का ध्यान करें। इसमें सब ओर द्वार हों। यह सब वरणीय वस्तुओं से युक्त हो। इसके बन्धन दृढ़ व सुग्रथित हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाशों व ग्रन्थियों की दृढ़ता

यत्ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत्॥ २॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय पदार्थोंवाली व सब ओर द्वारोंवाली शाले! **यत् ते नद्धम्**=जो तेरा बन्धन **यः पाशः**=जो जाल **ग्रन्थिः च**=और जोड़ **कृतः**=किया गया है, **अहम्**=मैं **तत्**=उसे उसी प्रकार **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार **विस्रंसयामि**=(स्रंसु अधःपतने) विगत पतनवाला करता हूँ, **इव**=जैसेकि **बृहस्पतिः**=एक ज्ञानी पुरुष **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ **बलम्**=बल को विगत पतनवाला करता है।

भावार्थ—मैं वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ इस शाला के बन्धनों, जालों व ग्रन्थियों को पतनशून्य व दृढ़ करता हूँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयमन+संबर्हण+दृढ़ीकरण

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि॥ ३॥

१. हे शाले! शिल्पी ने **ते ग्रन्थीन् आययाम**=तेरी ग्रन्थियों को सम्यक् बाँधा है, **संबबर्ह**=इन्हें सम्यक् मिलाया है (संवर्द्धितवान् संयोजितवान्) तथा **दृढान् चकार**=दृढ़ किया है। **विद्वान् शस्ता इव**=जिस प्रकार एक ज्ञानी चीर-फाड़ करनेवाला वैद्य सम्यक् पट्टी बाँधता है, इसी प्रकार हम **इन्द्रेण**=प्रभु के स्मरण के साथ **परूंषि**=तेरे जोड़ों को, पर्वों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जैसे वैद्य टूटे अवयवों को जोड़कर ठीक से पट्टी बाँध देता है, उसी प्रकार हम इस शाला के जोड़ों को नियमित करें, मिला दें और दृढ़ कर दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बन्धनों की दृढ़ता

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि॥ ४॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय वस्तुओंवाली शाले! **ते**=तेरे **वंशानाम्**=बाँसों के **नहनानाम्**=बन्धनों के **च**=और **प्राणाहस्य** (प्र नह) **तृणस्य**=प्रकृष्ट बन्धनवाले तृणों के तथा **ते पक्षाणाम्**=तेरे पार्श्वों को, **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम वरणीय वस्तुओं से युक्त इस शाला के वंश-बन्धनों, तृण-बन्धनों तथा पार्श्व-बन्धनों को सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मानस्य पत्नी' शाला

सन्दंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि॥ ५॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब **मानस्य पत्न्याः**=मान की रक्षा करनेवाली, अर्थात् सर्वत्र मान-(माप)-पूर्वक बनाई गई इस शाला के **सन्दंशानाम्**=कैंची के आकार की जुड़ी लकड़ियों के **पलदानाम्**=(पल straw, husk) तृणों से बनी चटाइयों के **च**=और **परिष्वञ्जलस्य**=(परि स्वञ्ज्) चारों ओर के पारस्परिक आलिंगन (बन्धन) के **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—शाला नाप-तोलकर बनाई जाए। इसके 'सन्दंशों, पलदों व परिष्वञ्जल्य' के बन्धन सुदृढ़ हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

'शिक्यों से आबद्ध सुन्दर' शाला

यानि तेऽन्तः शिक्या ∫ न्याबेधू रण्या ∫ य कम्।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे ∫ भव॥ ६॥

१. हे शाले! **यानि शिक्यानि**=जिन छींको को (A loop or swing made of rope) **कम्**=सुख से **रण्याय**=रमणीयता के लिए **ते अन्तः आबेधुः**=शिल्पियों ने तेरे अन्दर बाँधा है, **ते तानि**=तेरे उन छींकों को **प्रचृतामसि**=प्रकर्षेण दृढ़ करते हैं। २. तू **शिवा**=कल्याणकर हो, **मानस्य पत्नी**=हमारे सम्मान का रक्षण करनेवाली हो। **नः तन्वे**=हमारे शक्ति=विस्तार के लिए, **उत् हिता भव**=ऊपर स्थापित हुई-हुई हो अथवा उत्कृष्ट हित करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारा घर कार्यार्थ बँधे हुए छींकों से सुन्दर प्रतीत हो। यह घर कल्याणकर व सम्मानप्रद तथा हमारे शरीरों के स्वास्थ्य के लिए हितकर हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**परउष्णिक्**॥

दिव्य गृह का स्वरूप

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥ ७॥

१. हे **देवि शाले**=प्रकाशमय गृह! (दिव् द्युतौ) तू **हविर्धानम् असि**=हवि को आहित करने का स्थान है। तेरा मुख्य कमरा 'अग्निहोत्र का कमरा' है। सबसे प्रथम तुझमें इस पूजागृह की व्यवस्था की गई है। तब **अग्निशालम्** (असि)=तू अग्निशाला है, तुझमें रसोईघर (Kitchen) की व्यवस्था की गई है। इसके पश्चात् तीसरा **पत्नीनां सदनम्**=गृहपत्नियों के उठने-बैठने का स्थान है। 'पत्नीनां' शब्द सम्मिलित परिवार की सूचना दे रहा है। इसके बाद **सदः**=पुरुषों के उठने-बैठने का कमरा है। २. इन पूजाग्रह आदि के अतिरिक्त **देवानां सदः असि**=आये-गये अतिथियों (अतिथिदेवो भव) का कमरा भी है। यही सामान्य बैठक (Drawing room)

कहलाती है।

भावार्थ—एक प्रकाशमय आदर्श गृह में पाँच कमरे होने चाहिएँ—'पूजागृह, रसोईघर, स्त्रियों का कमरा, पुरुषों का कमरा व अतिथिगृह'। इनके अतिरिक्त गोष्ठादि अलग होंगे ही।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओपशं अक्षु

अक्षुमोपशं वितंतं सहस्राक्षं विषूवति। अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि॥ ८॥

१. जब कभी घरों पर कुछ लम्बे यज्ञों का विधान होता है तब उन यज्ञ के दिनों में केन्द्रीभूत दिन 'विषूवत्' कहाता है (The central day in sacrifical session)। इस **विषूवति**=यज्ञों के केन्द्रीभूत दिन के अवसर पर **ओपशम्**=गृह के शिरोभूषणरूप इस **अक्षुम्**=जाल को **ब्रह्मणा**=वेद के निर्देशानुसार—ज्ञानपूर्वक **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं। २. यह जाल **वितनम्**=फैला हुआ—विस्तृत है, **सहस्राक्षम्**=हज़ारों आँखों—झरोखोंवाला है, **अवनद्धम्**=नीचे से सम्यक् बद्ध है तथा **अभिहितम्**=चारों ओर से सम्यक् बद्ध हुआ है।

भावार्थ—यज्ञों के अवसर पर केन्द्रीभूत (मुख्य) दिन में घर में जो जाल (तम्बू)-सा लगाया जाए वह शोभा को बढ़ानेवाला, प्रकाश व वायु के लिए सहस्रों झरोखोंवाला, नीचे से चारों ओर से सम्यक् बद्ध हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उभौ जीवतां जरदष्टी

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम्।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी॥ ९॥

१. हे **मानस्य पत्नि**=सम्मान का रक्षण करनेवाली शाले! **यः त्वा प्रतिगृह्णाति**=जो तुझे स्वीकार करता है, अर्थात् जो व्यक्ति तुझमें निवास करते हैं **च**=और **येन**=जिस गृहपति से **त्वं मिता असि**=तू मानपूर्वक बनायी गई है **उभौ तौ**=वह गृहपति व अन्य गृह-सदस्य दोनों ही **जरदष्टी जीवताम्**=पूर्ण वृद्धावस्था का व्यापन करनेवाले होते हुए जीएँ, अर्थात् इस घर में सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—घर को वास्तुकला के अनुरूप उचित माप से बनानेवाला गृहपति व घर में रहनेवाले सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दृढ़ा, नद्धा, परिष्कृता

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः॥ १०॥

१. हे शाले! **यस्याः ते**=जिस तेरे **अङ्गम् अङ्गम्**=एक-एक अङ्ग को तथा **परुः परुः**=एक-एक जोड़ को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं, वह तू **दृढा**=बड़ी दृढ़, **नद्धा**=सुबद्ध व **परिष्कृता**=सम्यक् अलंकृत हुई-हुई तेरा निर्माण करनेवाले गृहपति को **अमुत्र**=भविष्य में—अगले समय में **आगच्छतात्**=प्राप्त हो, अर्थात् तू प्रतिदिन टूटती-फूटती न रह।

भावार्थ—घर के एक-एक अङ्ग व पर्व को सुग्रथित किया जाए। यह दृढ़, सुबद्ध व परिष्कृत घर भविष्य में गृहपति को सुखी करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अमांस भोजन व उत्तम सन्तान-निर्माण

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन्।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ११॥

१. हे **शाले**=गृह! **यः त्वा निमिमाय**=जो तुझे मानपूर्वक बनाता है और इस घर में **वनस्पतीन्**=वानस्पतिक पदार्थों का **संजभार**=संग्रह करता है, हे **शाले**=गृह! वह **त्वा**=तुझे **प्रजायै चक्रे**=उत्तम सन्तान के लिए बनाता है। जिस घर में मांस आदि पदार्थों का प्रवेश होता है, वह उत्तम सन्तानवाला नहीं बनता। २. उत्तम सन्तानों का निर्माता यह गृहपति **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित होता है—मोक्ष को प्राप्त करता है और यहाँ **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक होता है।

भावार्थ—घर को मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें वानस्पतिक पदार्थों का ही संग्रह करना चाहिए, परिणामतः घर में सन्तान उत्तम होते हैं और यह गृहपति प्रजारक्षक होता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घर में नियमित अग्निहोत्र

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः॥ १२॥

१. **तस्मै**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तम सन्तान का निर्माण करनेवाले प्रजापति के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। **दात्रे नमः**=दानशील पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं **च**=और **शालापतये**=घर का रक्षण करनेवाले के लिए **नमः कृण्मः**=नमस्कार करते हैं और **ते**=तुझ **अग्नये प्रचरते पुरुषाय**=अग्नि की सेवा करनेवाले—नियमित रूप से अग्निहोत्र करनेवाले पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—गृहस्थ को चाहिए कि घर में सन्तानों को उत्तम बनाने का प्रयत्न करे, दानशील हो, गृहरक्षण का ध्यान करे तथा घर में अग्निहोत्र के नियम को छिन्न न होने दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विजावती प्रजावती' शाला

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि॥ १३॥

१. इस घर में होनेवाले **गोभ्यः अश्वेभ्यः**=गौओं व घोड़ों के लिए **नमः**=उचित अन्न—दाना-घास प्राप्त कराते हैं (नमः=अन्न)। **शालायां विजायते**=इस घर में विशिष्टरूप से **यत्**=जो पदार्थ है, उस सबके लिए हम आदर का भाव रखते हैं, उन सबका समुचित प्रयोग करते हैं। समुचित प्रयोग ही उनका आदर है। २. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली, **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! **ते पाशान्**=तेरे सब जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—घर में होनेवाली गौओं और घोड़ों को समुचित दाना-घास प्राप्त कराया जाए। गृह के सब पदार्थों का समुचित प्रयोग हो। गृह के सब बन्धनों को सुदृढ़ बनाया जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्र व नीरोगता

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान्पशुभिः सह।
विजावति प्रजावति वि ते पाशाँश्चृतामसि॥ १४॥

१. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! तू **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **छादयसि**=सुरक्षितरूप में रखती है, **पशुभिः सह**=गौ आदि पशुओं के साथ **पुरुषान्**=इस घर के पुरुषों को भी सुरक्षित रखनेवाली है। नियमपूर्वक अग्निहोत्र होने से रोग नहीं होते और सभी स्वस्थ रहते हैं। २. हे शाले! हम **ते पाशान्**=तेरे जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जिस घर में नियमपूर्वक अग्निहोत्र होता है, वहाँ सब पुरुष और पशु स्वस्थ रहते हैं। प्रशस्त प्रजाओंवाले इस घर के बन्धनों को हम सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी**॥

द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै॥ १५॥

१. **द्यां च पृथिवीं च अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवी लोक के बीच में **यत् व्यचः**=जो विस्तार है, **तेन**= उसी विस्तार के हेतु से **ते**=तेरे लिए **इमां शालाम्**=इस शाला को **प्रति गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। इस मन्त्रभाग से यह स्पष्ट है कि निवासगृह एकमंजिला ही शोभा देता है, जिसके ऊपर आकाश है और नीचे पृथिवी है। ऐसे घर में सूर्य का प्रकाश सुविधा से पहुँचेगा। यह सूर्यप्रकाश रोगकृमियों को न पनपने देगा। २. **यत्**=जो **रजसः**=इस गृहलोक का (लोका रजांसि उच्यन्ते—नि० ४।९) **अन्तरिक्षम्**=मध्यभाग **विमानम्**=विशेष मानपूर्वक निर्मित हुआ है, **तत्**=उसे **अहम्**=मैं **शेवधिभ्यः**=कोशों के लिए—धन के रक्षण के लिए **उदरं कृण्वे**=पेट के समान करता हूँ। इस गृह के मध्य में धन के रक्षण के लिए सुगुप्त स्थान है, **तेन**=उसी कारण से **तस्मै**=उस धन-रक्षण के लिए मैं **शालां प्रतिगृह्णामि**=इस गृह को स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—मकान विशेष मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें सूर्य का प्रकाश और वायु सम्यक् आ सकें, अतः इसकी छत पर आकाश हो, फर्श के नीचे पृथिवी, अर्थात् सामान्यतः यह एक मंजिला ही हो। मध्य में कोश को सुरक्षित रखने के लिए एक गुप्त तलघर (उदर) हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऊर्जस्वती पयस्वती

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निर्मिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥ १६॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **ऊर्जस्वती**=अन्न और रसवाली है, **पयस्वती**=प्रशस्त दूध से परिपूर्ण है। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=बड़े माप से **निर्मिता**=बनाई गई है। २. **विश्वान्नम्**=सब अन्नों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई तू **प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः**=तुझे स्वीकार करनेवालों का हिंसन मत कर।

भावार्थ—हमारे घर अन्न, रस व दुग्ध से परिपूर्ण हों। ये बड़े मापकर बने हुए घर अन्नों

को धारण करते हुए, इनमें रहनेवाले हम लोगों का हिंसन न करें।

सूचना—घरों में मांस का स्थान नहीं। मांस आया और स=वह माम्=मुझे ही खाता है (मां-स)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

पद्वती हस्तिनी इव

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती॥ १७॥

१. यह **शाला**=गृह **तृणैः आवृता**=तृणों से आच्छादित है, **पलदान् वसाना**=चटाईयों को ओढे हुए है—इसकी छत तथा दीवारें तृणों व पलदों से बनी हुई हैं। यह **रात्रीः इव**=रात्रि के समान **जगतः निवेशनी**=गतिशील प्राणियों को अपने में निवास देनेवाली है। दिनभर कार्य करके थके हुए लोग रात्रि में घर में आश्रय पाते हैं। २. हे शाले! तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=मापकर बनाई हुई **तिष्ठसि**=इसप्रकार स्थित है **इव**=जैसेकि **पद्वती हस्तिनी**=प्रशस्त (सुदृढ़) पाँवोंवाली हथिनी स्थित होती है।

भावार्थ—इस घर पर घास का छप्पर रक्खा है, चारों ओर चटाईयों के वेष्टन हैं। सब स्थान प्रमाण से बने हैं। इसप्रकार का यह घर सुदृढ़ स्तम्भों पर इसप्रकार सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हथिनी अपने चार पाँवों पर।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यप्रकाश के लिए द्वार का खुलना

इटस्य ते वि चृतामि अपिनद्धमपोर्णुवन्।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु॥ १८॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **इटस्य अपिनद्धम्**=(इट गतौ, गमनागमन स्थानस्य—क्षेम०) गमनागमन द्वार के बन्धन को **अपोर्णुवन्**=समय-समय पर खोलता हुआ **विचृतामि**=पुनः विशेरूप से ग्रथित करता हूँ। द्वार के खोलने और बन्द करने का ध्यान रखता हूँ। २. **वरुणेन समुब्जिताम्**=आवरक अन्धकार से आवृत हुई-हुई तुझ शाला को **प्रातः**=रात्रि की समाप्ति पर प्रातः **मित्रः**=सूर्य **व्युब्जतु**=पुनः प्रकाशमय कर दे।

भावार्थ—हमारी शालाओं के द्वार अन्धकार के समय बन्द होकर प्रातः सूर्य के प्रकाश के स्वागत के लिए खुल जाएँ। घर में सूर्य का प्रकाश सम्यक् प्रवेश पाये।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सौम्यं सदः

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥ १९॥

१. **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **निमिताम्**=बनाई गई **कविभिः मितां निमिताम्**=ज्ञानियों से मापी गई और मानपूर्वक बनाई गई इस **शालाम्**=शाला को **इन्द्राग्नी रक्षताम्**=बल और प्रकाश रक्षित करनेवाले हों। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। इस **शालाम्**=शाला को **अमृतौ**=विषय-वासना के पीछे न मरनेवाले—विषयों से अनाक्रान्त पति-पत्नी (माता-पिता) रक्षित करें। २. **सदः**=यह घर **सोम्यम्**=सौम्य न कि आग्नेय भोजनों से युक्त हो। सौम्य भोजन इस घर में रहनेवालों को 'अमृत'—नीरोग व दीर्घजीवी बनाएँ।

भावार्थ—घर ज्ञानियों द्वारा ज्ञानपूर्वक मापकर बनाया जाए। इस घर में 'बल व प्रकाश'

दोनों तत्त्वों को सिद्ध करने का यत्न किया जाए। सौम्य भोजनों का ही प्रयोग करते हुए यहाँ के लोग नीरोग व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्व प्रजनन

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद्विश्वं प्रजायते॥ २०॥

१. 'कुलम् अयते अत्र' इस व्युत्पत्ति से कुलाय शब्द 'एक परिवार के रहने के स्थान' का वाचक है। **कुलाये अधि**=एक कुलाय पर **कुलायम्**=कुलाय तथा **कोशे**=एक कोश पर **कोशः**=दूसरा कोश **समुब्जितः**=सम्यक् आवृत्त हुआ-हुआ है। एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के मकान में रहता है तो दूसरा ऊपर रह रहा है। २. **तत्र**=वहाँ **मर्तः**=मनुष्य **विजायते**=विशिष्टरूप से अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करता है, **यस्मात् विश्वं प्रजायते**=जिससे कोई भी सन्तान असर्वाङ्ग (अ-विश्व, विकलांग) उत्पन्न नहीं होती—सब सन्तान सर्वाङ्ग ही होती हैं।

भावार्थ—एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के गृह में रहता है तो दूसरा ऊपर के। सब मिलकर प्रेम से अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं, परिणामतः इनकी सब सन्तानें सर्वाङ्ग ही होती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

द्विपक्षा-दशपक्षा

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भमिवाशये॥ २१॥

१. **या द्विपक्षा**=जो शाला दो पक्षों—कक्षागृहोंवाली है, **चतुष्पक्षा**=चार कक्षागृहोंवाली है, **या**=जो **षट्पक्षा निमीयते**=छह कक्षागृहोंवाली मानपूर्वक बनाई गई है। जो शाला **अष्टापक्षाम्**=आठ कक्षागृहोंवाली है, **दशपक्षां शालाम्**=और जो दस पक्षोंवाली शाला है, जो शाला **मानस्य पत्नीम्**=मान का रक्षण करनेवाली है, अर्थात् बड़े माप से बनाई गई है, उसमें मैं इसप्रकार **आशये**=निवास करता हूँ **इव**=जैसेकि **अग्निः**=जाठराग्नि **गर्भे**=उदर में निवास करती है अथवा जैसे जाठराग्नि और गर्भस्थ बालक अपने-अपने स्थान में सुरक्षित रहते हैं।

भावार्थ—परिवार के छोटे-बड़े होने के अनुसार शाला दो से दस कक्षागृहों तक बनाया जा सकता है। ये सब कक्षागृह बड़े माप से बने हों। इनमें हम अतिशयेन सुरक्षितरूप में निवास करें।

सूचना—पं० जयदेवजी शर्मा के अनुसार 'अग्निर्गर्भइव' का अर्थ यह है कि जैसे 'गर्भः अग्निः' गर्भस्थ बालक मातृगर्भ में सुरक्षित रहता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः आपः

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः॥ २२॥

१. हे **शाले**=गृह! **प्रतीचीम्**=मेरे सम्मुख स्थित हुई-हुई **अहिंसतीम्**=किसी भी प्रकार से हिंसन न करती हुई **त्वा**=तेरे प्रति **प्रतीचीनः**=मुख किये हुए आता हुआ **प्र एमि**=तुझे प्राप्त होता हूँ। **अन्तः हि**=तेरे अन्दर निश्चय से **अग्निः आपः च**=अग्नि और जल—दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं जोकि **ऋतस्य**=यज्ञ के **प्रथमा द्वाः**=मुख्य द्वार हैं। प्रत्येक यज्ञ की सिद्धि के लिए 'अग्नि और

जल' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अनुकूल परिस्थितिवाले घरों को प्राप्त हों। इन घरों में रोगादि से किसी भी प्रकार हमारा हिंसन न हो। घरों में 'अग्नि और जल' दोनों तत्त्व सुलभ हों, क्योंकि इन्हीं के द्वारा सब यज्ञ सिद्ध होंगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयक्ष्माः, आपः, अमृता अग्निः

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ २३॥

१. **इमाः आपः**=इन जलों को जोकि **अयक्ष्माः**=रोगरहित हैं—जिनमें किन्हीं रोगकृमियों के होने की आशंका नहीं है और जो **यक्ष्मनाशनीः**=रोगों का नाश करनेवाले हैं, उन जलों को **प्रभरामि**=मैं घर में प्रकर्षेण प्राप्त कराता हूँ। २. मैं **गृहान्**=इन घरों को **उपप्रसीदामि**=समीपता से, प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त होता हूँ—इन घरों में प्रसन्नतापूर्वक स्थित होता हूँ जोकि **अमृतेन अग्निना सह**=कभी न मरनेवाली—कभी न बुझनेवाली व नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि के साथ हैं—यज्ञाग्नि से युक्त हैं।

भावार्थ—हमारे घर रोगनाशक जलों से युक्त हों तथा इन घरों में नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घर, न कि सतत बन्धन

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥ २४॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **नः पाशं मा प्रतिमुचः**=हमारे लिए बन्धन करनेवाला न हो—हम सदा घर में ही बँधे न रह जाएँ। **गुरुः भारः**=एक घर का भार बहुत है, **लघुः भव**=प्रभुकृपा से यह हल्का हो जाए। हम गृहस्थ के बोझ को उठाने में समर्थ हों और धीरे-धीरे अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए हल्के हो सकें। २. हे शाले! इसप्रकार उत्तरदायित्व के बोझ से रहित होकर अब हम इसी प्रकार तुझे **यत्र कामम्**=इच्छानुसार जहाँ-तहाँ **भरामसि**=ले-जानेवाले हों, **इव**=जिस प्रकार कि हम एक दिन **वधूम्**=वधू को पितृगृह से इच्छानुसार अपने घर में लाये थे। एक दिन हम गृहस्थ बने थे। अब गृहस्थ के बोझ को सम्यक् उठाने के बाद वनस्थ होते हुए घर के बन्धन से मुक्त होते हैं तथा इच्छानुसार किसी अन्य स्थान में डेरा डालते हैं।

भावार्थ—घर हमारे लिए सदा के लिए बन्धन न हो जाएँ। गृहस्थ का बोझ धीमे-धीमे हल्का होता जाए। अन्ततः इस बोझ का निर्वहन करके हम वनस्थ होकर इच्छानुसार स्थानान्तर में बसेरा करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—२५, ३१ **त्रिपदाप्रजापत्याबृहती,** २६ **त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप्,** २७-३० **त्रिपदाप्रतिष्ठानामगायत्री (एकावसाना)**

प्रभु-नमन—देववन्दन

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ⌠ भ्यः॥ २५॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ⌠ भ्यः॥ २६॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ⌠ भ्यः॥ २७॥

उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ∫ भ्यः॥ २८॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ∫ भ्यः॥ २९॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ∫ भ्यः॥ ३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये ∫ भ्यः॥ ३१॥

१. **शालायाः**=इस शाला की **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से **महिम्ने नमः**=उस प्रभु की महिमा के लिए हम नतमस्तक हों और साथ ही **स्वाह्येभ्यः**=(सु आह) उत्तम शब्द बोलने योग्य—प्रशस्य **देवेभ्यः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुषों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशस्त शब्दों को कहें—विद्वानों का समुचित आदर करें। २. इसी प्रकार **शालायाः**=शाला की दक्षिण दिशा से, **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **उदिच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुव (नीचे की) दिशा से **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से तथा **दिशःदिशः**=सब दिशाओं-प्रदिशाओं से हम उस प्रभु की महिमा के लिए नतमस्तक हों और प्रशंसनीय देवों के लिए प्रशंसा के शब्दों को कहें।

भावार्थ—हमारे घरों में सर्वत्र प्रभु की महिमा के प्रति नमन हो तथा वन्दनीय विद्वानों का उचित समादर हो।

विशेष—घर में ब्रह्म की महिमा के प्रति सदा नतमस्तक होता हुआ तथा देववन्दन करता हुआ यह उन्नत होता हुआ 'ब्रह्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह ऋषभ नाम से प्रभु-स्तवन करता है—

४ [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'साहस्रः-उस्रियः' प्रभु

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन्बार्हस्पत्यउस्रियस्तन्तुमातान्॥ १॥

१. **साहस्रः**=सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं व अनन्त सामर्थ्यों से युक्त **त्वेषः**=कान्तिमान् **ऋषभः**=(ऋष गतौ दर्शने च) सर्वव्यापक व सर्वेद्रष्टा, **पयस्वान्**=प्रशस्त आप्यायनवाले—आनन्दरस से परिपूर्ण वे प्रभु **विश्वा रूपाणि**=समस्त लोकों व प्राणियों को **वक्षणासु बिभ्रत्**=अपनी कोखों में धारण किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्मण्ड प्रभु के एक देश में हैं। २. वे प्रभु **दात्रे**=दानशील अथवा आत्म-समर्पण करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील उपासक के लिए **भद्रं शिक्षन्**=कल्याण करनेवाले हैं। वे **बार्हस्पत्यः**=आकाश आदि महान् लोकों के स्वामी **उस्रियः**=सब लोकों को अपने अन्दर बसानेवाले **तन्तुम्**=इस ब्रह्माण्ड तन्तु को **आतान्**=चारों ओर विस्तृत कर रहे हैं (अतानीत्)।

भावार्थ—वे प्रभु 'साहस्र, त्वेष, ऋषभ व पयस्वान्' हैं। वे सब लोकों को अपनी कोख में धारण किये हुए हैं। समर्पण करनेवाले यजमान का वे कल्याण करते हैं। वे सब लोकों के स्वामी, सबको अपने में बसानेवाले प्रभु, इस संसार-तन्तु का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपां प्रतिमा

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु॥ २॥

१. **यः**=जो **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **अपाम्**=प्रजाओं का (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **प्रतिमा बभूव**=निर्माता (Maker, Creator) हुआ (महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारे, मनवस्तथा। मद्भावा मनसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥) वह **देवी पृथिवी इव**=इस दिव्य गुणोंवाली, सब पदार्थों को देनेवाली पृथिवी के समान **सर्वस्मै प्रभूः**=सबके लिए—सबको आधार देने के लिए समर्थ है। २. वह **वत्सानाम्**=(वदति) स्तवन करनेवालों का अथवा वेदवचनों का उच्चारण करनेवालों का **पिता**=रक्षक है। **अघ्न्यानाम्**=अहन्तव्य वेदवाणियों के **पतिः**=वे प्रभु स्वामी हैं। सब वेदवाणी प्रभु में ही निवास करती हैं। ये प्रभु **साहस्रे पोषे**=सहस्रों पराक्रमों से युक्त पोषण में **नः कृणोतु**=हमें करें, अर्थात् सब प्रकार से हमें पुष्ट करें।

भावार्थ—प्रभु सर्गारम्भ में अमैथुनी सृष्टि को जन्म देते हैं, सबका धारण करते हैं, स्तोताओं के रक्षक हैं, वेदवाणियों के पति हैं। वे हमें सहस्रों प्रकार से पुष्ट करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'पुमान् पयस्वान्' प्रभु

पुमान॒न्तर्वा॒न्त्स्थवि॑रः॒ पय॑स्वा॒न्वसो॒ः कब॑न्धमृष॒भो बि॑भर्ति।
तमिन्द्रा॑य प॒थिभि॑र्दे॒व॒यानै॑र्हु॒तम॒ग्निर्व॑हतु जा॒तवे॑दाः॥ ३॥

१. **पुमान्**=(पू) सबको पवित्र करनेवाले, **अन्तर्वान्**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने में धारण किये हुए **स्थविरः**=स्थिर—कूटस्थ, **पयस्वान्**=आनन्दरसवाले, **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **वसोः**=सबको बसानेवाले संसार के **क-बन्धम्**=सुखमय बन्धन को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। इसमें आसक्ति, अतियोग व व्यवहार का दोष दुःखों को पैदा करता है। २. **तं हुतम्**=उस सर्वप्रद प्रभु को (हु दाने) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए **जातवेदाः**=उत्पन्न ज्ञानवाला **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **वहतु**=धारण करे। यदि हम ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर देवयान मार्ग से चलेंगे तो क्यों न उस प्रभु को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। अयोग व व्यवहार-दोष से हम इसे दुःखमय बना लेते हैं। ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर हम देवयान मार्गों से चलें तो प्रभु को प्राप्त करेंगे और परमैश्वर्य के भागी होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रतिधुक् पीयूषः' प्रभुः

प॒िता व॒त्सानां॒ पति॑र॒घ्यानां॒मथो॑ प॒िता म॑हतां॒ गर्ग॑राणाम्।
व॒त्सो ज॒रायु॑ प्रति॒धुक्पी॒यूष॑ आमि॒क्षा घृ॒तं तद्व॑स्य॒ रेत॑ः॥ ४॥

१. वे प्रभु **वत्सानां पिता**=स्तुतिवाणियों का उच्चारण करनेवालों के रक्षक हैं, **अघ्न्यानां पतिः**=अहन्तव्य—नित्य स्वाध्याय के योग्य वेदवाणियों के स्वामी हैं, **अथो**=और **महताम्**=महनीय—आदरणीय **गर्गराणाम्**=ज्ञानोपदेष्टाओं के भी वे प्रभु **पिता**=पिता हैं—गुरुओं के भी गुरु हैं (**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**)। २. वे प्रभु **वत्सः**=(वदति) सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान का उपदेश देनेवाले हैं, **जरायुः**=गर्भ वेष्टनचर्म के समान हैं—सारे ब्रह्माण्ड को अपने में आवृत्त किये हुए हैं, **प्रतिधुक्**=प्रत्येक पिण्ड में उस-उस शक्ति का प्रपूरण करनेवाले हैं। सूर्य में प्रभा, चन्द्र में ज्योत्स्ना, पृथिवी में पुण्य गन्ध, जलों में रस, अग्नि में तेज, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज और बलवानों में बल के स्थापित करनेवाले प्रभु ही हैं। **पीयूषः**=(पीय् प्रीतौ)

वे भक्तों को अवर्णनीय आनन्द से प्रीणित करनेवाले हैं, **आमिक्षा**=(आ मेषति, मिषु सेचने) सर्वत्र आनन्द का सेचन करनेवाले हैं। जहाँ कहीं भी **घृतम्**=(घृ दीप्तौ) दीप्ति है **उ**=और **रेतः**=शक्ति है, **तत् अस्य**=वह सब उस प्रभु की ही तो है।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के रक्षक, अहन्तव्य वेदवाणियों के स्वामी, महनीय ज्ञानोपदेष्टाओं के पिता, वेदज्ञान के उपदेष्टा, सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर करनेवाले, प्रत्येक पदार्थ में उस-उस शक्ति का पूरण करनेवाले, भक्तों को अलौकिक आनन्द से प्रीणित करनेवाले, सर्वत्र सुखों के वर्षक हैं। सब दीप्ति व शक्ति प्रभु की ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शरीरं बृहन् अद्रिः

देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्॥ ५॥

१. वे प्रभु **देवानां भागः**=दिव्यवृत्ति के सब पुरुषों से सेवनीय हैं (भज सेवायाम्)। **एषः**=यह **उपनाहः**=(नह बन्धने) संसार के सब पिण्डों को एक सूत्र में बाँधनेवाला है—सूत्रों का सूत्र है। **अपाम्**=जलों का, **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **घृतस्य**=घृत का **रसः**=रस प्रभु ही हैं। २. **शक्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु हम पुत्रों के लिए **सोमस्य भक्षम्**=सोम के भोजन को **अवृणीत**=वरते हैं, अर्थात् प्रभु हमारे लिए सौम्य भोजनों को ही नियत करते हैं। इस भोजन से **यत् शरीरम्**=जो यह शरीर है, वह **बृहन् अद्रिः**=एक बड़े पर्वत की भाँति **अभवत्**=हो जाता है। यह शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति शरीर में सुरक्षित होती हुई शरीर को सुदृढ़ बनाती है।

भावार्थ—प्रभु दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों से उपासनीय हैं, सब लोकों को एक सूत्र में बाँधनेवाले हैं। जल, ओषधि व घृत में रसरूप में रह रहे हैं। सौम्य भोजनों के द्वारा हमारे शरीरों को सुदृढ़ बनाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**जगती**॥

याः इमाः, याः अमूः

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व ∫ इह या इमा न्यस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः॥ ६॥

१. हे प्रभो! आप गतमन्त्र में वर्णित सौम्य भोजनों के द्वारा उत्पन्न **सोमेन पूर्णम्**=सोम से पूर्ण **कलशम्**=इस शरीरकलश को **बिभर्षि**=धारण करते हो। आप ही **रूपाणां त्वष्टा**=सब रूपों के निर्माता हैं—इन रूपवान् पिण्डों को बनानेवाले हैं और **पशूनां जनिता**=सब प्राणियों के उत्पादक हैं। २. हे प्रभो! **याः इमाः ते प्रजन्वः**=जो ये आपकी प्रजनन शक्तियाँ हैं, वे **इह शिवाः सन्तु**=यहाँ कल्याणकारक हों। हे **स्वधिते**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! **याः अमूः**=जो वे आपकी धारणशक्तियाँ हैं, उन्हें **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **नियच्छ**=निश्चय से दीजिए। '**याः इमाः**' से शारीरिक शक्तियों के विकास का संकेत है और '**याः अमूः**' से आत्मिक शक्तियों के विकास का। प्रभु हमें दोनों ही शक्तियाँ प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर-कलशों को सोम (वीर्य) से पूर्ण करके धारण करते हैं। सब पिण्डों का निर्माण करते हैं और सब प्राणियों को जन्म देते हैं। प्रभु की प्रजनन शक्तियाँ हमारे शरीरों का कल्याण करें और हमें आत्मिक विकास की शक्तियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शिवः दत्तः' प्रभु

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान्देवाः शिव एतु दत्तः॥ ७॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **घृतम्**=ज्ञान-दीप्ति हमारे जीवनों में **आज्यम्**=कान्ति को (अञ्ज कान्तौ) **बिभर्ति**=धारण करती है। (अस्य) **रेतः**=प्रभु के द्वारा हमारे शरीरों में उत्पन्न किया हुआ वीर्य **साहस्रः पोषः**=सहस्रों प्रकार से हमारा पोषण करनेवाला है। **तम् उ**=उस प्रभु को ही निश्चय से **यज्ञम्**=पूजनीय व संगति करने योग्य **आहुः**=कहते हैं। यह प्रभु का मेल ही हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराता है। २. **सः**=वह **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली के **रूपम्**=रूप को **वसानः**=धारण करता हुआ **अस्मान् आ एतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। हे **देवाः**=विद्वानो! वे प्रभु **शिवः**=कल्याणकर हैं, और **दत्तः**=(दत्तम् अस्य अस्ति) सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को कान्त बनाता है। प्रभु से दी गई शक्ति हमारा बहुत प्रकार से रक्षण करती है। वे प्रभु ही उपास्य हैं। परमैश्वर्यवाले वे प्रभु हमें प्राप्त हों। वे प्रभु सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं और हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

धीरासः, कवयः, मनीषिणः

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः॥ ८॥

१. वे प्रभु **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **ओजः**=बल हैं, जितेन्द्रिय पुरुष में बल के रूप में रहते हैं, **वरुणस्य**=पाप से अपना निवारण करनेवाले की **बाहू**=भुजाएँ हैं (बाह प्रयत्ने)। वस्तुतः प्रभु से ही उसे पापनिवारक शक्ति प्राप्त होती है। **अश्विनोः**=कर्मों में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) रहनेवाले पति-पत्नी के वे प्रभु **अंसौ**=कन्धों के समान हैं। प्रभुकृपा से ही वे कर्मव्याप्त पति-पत्नी अपने कन्धों पर गृहस्थ-भार को उठाने में समर्थ होते हैं। **मरुताम्**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणः) प्राणसाधक व मितभाषी—कर्मशूर पुरुषों के **इयं ककुत्**=ये प्रभु शिखर हैं, अर्थात् इन्हें वे शिखर पर पहुँचानेवाले हैं। २. **एतम्**=इस प्रभु को **बृहस्पतिम्**=आकाश आदि सब बड़े-बड़े लोकों का स्वामी तथा **संभृतम्**=उनका सम्यक् भरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। **ये**=जोकि **धीरासः**=धीर हैं (धी+ईर्), बुद्धिपूर्वक गति करनेवाले हैं, **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वदर्शी हैं व **मनीषिणः**=(मनसः ईशते) मन का शासन करनेवाले हैं, वे पुरुष प्रभु को ऐसा ही कहते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों के स्वामी व सम्यक् भरण करनेवाले हैं। वे जितेन्द्रिय पुरुष को शक्ति देते हैं, पाप-निवारण की वृत्तिवाले को पाप-निवारण में समर्थ करते हैं, कर्मव्याप्त पति-पत्नी को गृहस्थ-भार उठाने में समर्थ करते हैं तथा प्राणसाधक मितरावी पुरुषों को शिखर पर पहुँचाते हैं। 'धीर, कवि व मनीषी' प्रभु को इसी रूप में देखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'इन्द्र सरस्वान्' प्रभु

दैवीर्विशः पर्यस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः॥
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ ९॥

१. हे प्रभो! **पयस्वान्**=सब शक्तियों के दृष्टिकोण से आप्यायनवाले आप **दैवीः विशः**=दिव्य गुणयुक्त प्रजाओं को **आतनोषि**=चारों ओर विस्तृत करते हैं। प्रभु का सम्पर्क प्रजाओं को दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली **आहुः**=कहते हैं। **त्वाम्**=आपको ही **सरस्वन्तम्**=ज्ञानों के प्रवाहवाला—सरस्वती का पति कहते हैं। २. **यः**=जो **ब्राह्मणे**=इस वेदज्ञान में (ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्रों में) **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को ग्रहण करता है (हु आदाने), **सः**=वह **एकमुखाः**=एक ब्रह्म ही जिनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, उन **सहस्रम्**=हज़ारों वेदवाणियों को **ददाति**=जनहित के लिए देनेवाला होता है।

भावार्थ—शक्तियों के आप्यायनवाले प्रभु प्रजाओं को दिव्य गुणयुक्त करते हैं। प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। जो भी व्यक्ति वेदवाणियों में प्रभु का ग्रहण करता है, वह प्रभु के द्वारा प्रतिपादित इन शतशः वेदवाणियों को लोकहित के लिए देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'बृहस्पति, सविता, त्वष्टा, वायु' प्रभु

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः**=वह आकाशादि महान् लोकों का स्वामी, **सविता**=सर्वोत्पादक प्रभु **ते वयः दधौ**=तेरे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। उस **त्वष्टुः**=सर्वनिर्माता **वायोः**=गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले प्रभु से **ते आत्मा**=तेरा आत्मा **परि आभृतः**=समन्तात् पुष्ट किया गया है। २. हे प्रभो! मैं **अन्तरिक्षे**=अपने हृदयान्तरिक्ष में **मनसा**=मनन के द्वारा **त्वा**=आपके प्रति **जुहोमि**=अपने को अर्पित करता हूँ। **ते**=आपके बनाये हुए **उभे द्यावापृथिवी**=ये दोनों मस्तिष्क व शरीर **बर्हिः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धिवाले **स्ताम्**=हों। आपके अनुग्रह से मैं अपने मस्तिष्क व शरीर को वृद्धियुक्त कर पाऊँ।

भावार्थ—वह 'बृहस्पति, सविता' प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। 'त्वष्टा, वायु' हमारे आत्मा का पोषण करें। हम मनन द्वारा प्रभु को हृदय में धारण करें—हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों वृद्धिशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया

य इन्द्रइव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवेषु इन्द्रः इव**=देवों में इन्द्र के समान हैं। इन्द्रियाँ देव हैं, इनका अधिष्ठाता जीवात्मा 'इन्द्र' है। जैसे इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव है, उसी प्रकार प्रभु सूर्यादि देवों का अधिष्ठाता है। ये प्रभु **गोषु**=वेदवाणियों में **विवावदत्**=खूब ही ज्ञानोपदेश करते हुए **एति**=गति करते हैं—हमें प्राप्त होते हैं। २. **तस्य**=उस **ऋषभस्य**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु के **अङ्गानि**=अङ्गों का **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् **भद्रया संस्तौतु**=कल्याणी वेदवाणी द्वारा स्तवन करे।

भावार्थ—प्रभु सूर्यादि देवों के इसप्रकार अधिष्ठाता हैं, जैसेकि जीवात्मा इन्द्रियों का। वे प्रभु वेदवाणी द्वारा हमें कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं। ब्रह्मा प्रभु का वर्णन करने में आनन्द का अनुभव करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विराट् प्रभु का दर्शन

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति॥ १२॥
भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः॥ १३॥
गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन्।
उत्थातुरब्रुवन्पद ऋषभं यदकल्पयन्॥ १४॥
क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत्सर्वे ऋषभं व्यकल्पयन्॥ १५॥

१. ब्रह्मा प्रभु के विराट् शरीर की कल्पना इसप्रकार करता है कि उस विराट् पुरुष के **पार्श्वे**=दोनों पार्श्व **अनुमत्याः आस्ताम्**=अनुमति के हैं—एक कला से हीन पूर्णिमा के चाँद के हैं (कलाहीने सानुमतिः) **अनूवृजौ**=पसलियों के दोनों भाग **भगस्य आस्ताम्**=सूर्य के हैं। **मित्रः इति अब्रवीत्**=प्राणवायु ने यह कहा है कि उस विराट् के **एतौ अष्ठीवन्तौ**=ये घुटने तो **केवलौ मम**=केवल मेरे ही हैं। २. **भसत्**=प्रजनन भाग **आदित्यानाम् आसीत्**=आदित्यों का है, **श्रोणी**=कटि के दोनों भाग **बृहस्पतेः आस्ताम्**=बृहस्पति के हैं, **पुच्छम्**=पुच्छ भाग **देवस्य वातस्य**=दिव्य गुणयुक्त वायु का है। **तेन**=वायुनिर्मित पुच्छ से वह **ओषधीः धूनोति**=सब ओषधियों को कम्पित करता है। ३. **गुदाः**=गुदा की नाड़ियाँ **सिनीवाल्याः आसन्**=सिनीवाली (सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली) जिसमें चन्द्रमा की एक कला प्रादुर्भूत हो रही है, उस अमावस की हैं, **त्वचम्**=त्वचा को **सूर्यायाः अब्रुवन्**=सूर्या का (सूर्या—The daughter of the sun—उषा)—उषा का कहते हैं। **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को **यत् अकल्पयन्**=जब विराट् पुरुष के रूप में कल्पित किया—सोचा गया तो **पदः**=उसके पाँवों को **उत्थातुः अब्रुवन्**=उत्थाता—[प्राण का] कहा गया। ४. **जामिशंसस्य**=सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले, मातृरूप प्रभु का शंसन करनेवाले की वे **क्रोडः आसीत्**=गोद हैं। यह भक्त सदा मातृरूप प्रभु की गोद में आनन्दित होता है। यह प्रभु तो **सोमस्य कलशः**=सोम का—आनन्दरस का कलश ही **धृतः**=धारण किया गया है। **यत्**=जब **सर्वे देवाः**=सब देव **संगत्य**=मिलकर **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को **व्यकल्पयन्**=एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पित करते हैं, तब उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्मा द्वारा उस प्रभु के अङ्गों का प्रतिपादन होता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड के सब पिण्ड उस विराट् पुरुष के विविध अङ्गों के रूप में है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वस्तुमात्र की अव्यर्थता

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन्॥ १६॥

१. **ते**=उन दोनों ने **कुष्ठिकाः**=(A kind of poison) शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले विषों को **सरमायै**=सरमा (शुनी) के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये विषतुल्य शरीराङ्ग भी कुत्तों के लिए ग्राह्य रसोंवाले बन जाते हैं—वे उन्हें चबाते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। **शफान्**=खुरों को **कूर्मेभ्यः**=कछुओं के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये पशुओं के खुर भी इनका भोजन बन

जाते हैं। तथा **अस्य**=इस प्रभु की व्यवस्था से पेट में रह जानेवाले **ऊबध्यम्**=अजीर्ण अन्न को भी **श्ववर्तेभ्यः**=(श्वः वर्तन्ते) एक-दो दिन जीनेवाले **कीटेभ्यः**=कीटों के लिए **अधारयन्**=धारण किया।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से इस संसार में होनेवाले 'कुष्ठिका, शफ, ऊबध्य' आदि मलभूत पदार्थ भी किन्हीं प्राणियों के लिए भोजन बन जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेदज्ञान व सुन्दर जीवन

शृङ्गाभ्यां रक्षः ऋषति अवर्तिं हन्ति चक्षुषा।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः॥ १७॥

१. **यः**=जो भी **गवां पतिः**=वेदवाणियों का स्वामी बनता है, वह **अघ्न्यः**=विषय-वासनाओं से अहन्तव्य होता है। यह वैषयिक वृत्तियोंवाला नहीं बनता। **कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति**=कानों से भद्र को ही सुनता है। यह निन्दा की बातों को सुनने में रुचि नहीं लेता। **शृंगाभ्याम्**=(शृणाति) शरीरस्थ दोषों को विनष्ट करनेवाले प्राणापानरूप शृंगों से **रक्षः**=सब रोगकृमियों को **ऋषति**=नष्ट कर देता है तथा **चक्षुषा**=ज्ञानदृष्टि से **अवर्तिं हन्ति**=दौर्भाग्य (bad fortune, poverty, distress, want) को दूर भगाता है।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्येता 'विषयों में नहीं फँसता, कानों से सदा शुभ सुनता है, प्राणसाधना द्वारा रोगकृमियों का विनाश करता है तथा ज्ञानदृष्टि से दौर्भाग्य को दूर करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

'प्रभुस्मरण' व 'स्वस्थ, पवित्र जीवन'

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ १८॥

१. **यः ब्राह्मणे**=जो ब्रह्मज्ञान के निमित्त **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को अपने में अर्पित करता है, अर्थात् प्रभु को अपने हृदय में स्थापित करने के लिए यत्नशील होता है, **सः**=वह **शतयाजं यजते**=शतवर्षपर्यन्त यज्ञों को करनेवाला होता है। **एनम्**=इस प्रभु-स्मरणपूर्वक यज्ञ करनेवाले व्यक्ति को **अग्नयः**=अग्नियाँ न **दुवन्ति**=सन्तप्त नहीं करतीं, अर्थात् यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तापों से पीड़ित नहीं होता। २. **तम्**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देव **जिन्वन्ति**=प्रीणित करनेवाले होते हैं। सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देवों की अनुकूलता से यह यज्ञशील उपासक पूर्ण स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ऐसा करने पर हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम कष्टाग्नियों से पीड़ित नहीं होंगे और सूर्यादि सब देवों की अनुकूलता से हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषभ-दान

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते॥ १९॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए **ऋषभं दत्वा**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को—

प्रभु का ज्ञान देकर यह उपदेष्टा **मनः वरीयः कृणुते**=अपने हृदय को विशाल (उदार) बनाता है। ज्ञान का आदान-प्रदान इन ज्ञानियों के मनों को उदार व पवित्र करता है। २. **सः**=वह ज्ञानोपदेष्टा **स्वे गोष्ठे**=अपने गोष्ठ में (An assembly), अपनी सभाओं में **अघ्न्यानाम्**=इन अहन्तव्य वेदवाणियों की **पुष्टिम्**=पुष्टि को **अवपश्यते**=देखता है। इनकी सभाओं में इन ज्ञान की वाणियों की ही चर्चा होती है और उस प्रकार इन्हीं का प्रसार होता है।

भावार्थ—हम गोष्ठियों में अहन्तव्य वेदवाणियों की ही चर्चा करें। ब्रह्मज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए विशाल व पवित्र हृदयोंवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गावः प्रजाः तनूबलम्

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ २०॥

१. इस **ऋषभदायिने**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु का ज्ञान देनेवाले के लिए **गावः सन्तु**=इन्द्रियाँ हों, अर्थात् इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, **प्रजाः सन्तु**=इसे उत्तम सन्तान प्राप्त हों **अथो**=और **तनूबलम् अस्तु**=इसके शरीर का बल ठीक बना रहे। २. **देवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव ब्रह्मज्ञान देनेवाले के लिए **तत् सर्वम्**='इन्द्रियों, प्रजाओं व बल' उन सबको **अनुमन्यन्ताम्**=अनुमत करें। सब देवों की अनुकूलता से ये सब पदार्थ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हम परस्पर ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते हुए सब देवों की अनुकूलता से उत्तम इन्द्रियों, सन्तानों व शरीर-बल को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

चेतनी रयि

अयं पिपान इन्द्र इद्रयिं दधातु चेतनीम्।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः॥ २१॥

१. **अयम्**=यह **पिपानः**=सदा से आप्यायित (वृद्ध) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **चेतनीं रयिम्**=चेतना प्राप्त करानेवाले ज्ञानैश्वर्य को **दधातु**=धारण करे। प्रभुकृपा से हमें वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो जो हमें चेतना प्राप्त करानेवाला है। २. **अयम्**=यह **दिवः परः**=ज्ञान के दृष्टिकोण से सर्वोत्कृष्ट (पर)—सर्वज्ञ प्रभु **वशं विपश्चितम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले ज्ञानी को **धेनुं दुहाम्**=वेद-धेनु को दुहे। 'वश विपश्चित' के लिए प्रभु वेदज्ञान दें। इसके लिए उस वेद-धेनु का दोहन करें जोकि **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन के योग्य है तथा **नित्यवत्साम्**=सदा वत्सवाली है, अर्थात् सदा नवसूतिका होने से सदा ही ज्ञान-दुग्ध देनेवाली है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करनेवाले व ज्ञान में रुचिवाले हों। प्रभु हमें चेतानेवाला ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराएँ और वेदधेनु हमारे लिए सदा नित नया ज्ञान देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आयु-प्रजा-धन

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत्प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम्॥ २२॥

१. **पिशङ्गरूपः**=(पिश् to light, irradiate) तेजस्वीरूपवाला **नभसः**=(The sky) आकाशवत् व्यापक (खं ब्रह्म) **वयोधा**=उत्कृष्ट जीवन प्रदाता **ऐन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली (इन्द्र एव ऐन्द्रः),

शुष्मः=बलवान्, **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण पदार्थों का निरूपण करनेवाला (विश्वं रूपयति), सब पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान देनेवाला प्रभु **नः आगन्**=हमें प्राप्त हो। २. ये प्रभु अस्मभ्यम्=हमारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन **च प्रजाम्**=और उत्तम सन्तान प्राप्त कराएँ, **च**=तथा **नः**=हमें **रायः पोषैः**=धनों के पोषणों से **अभिसचताम्**=आभिमुख्येन समवेत करें। प्रभु के अनुग्रह से आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम दीर्घजीवी व उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी, व्यापक, उत्कृष्ट जीवन देनेवाले, परमैश्वर्यशाली, शक्तिमान् व सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। वे हमें आयु, प्रजा व धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रेतस् व वीर्य

उपेहोपपर्चनास्मिन्गोष्ठ उप पृञ्च नः।
उप ऋषभस्य यद्रेत उपेन्द्र तव वीर्यं ∫म्॥ २३॥

१. हे **उपपर्चन**=अत्यन्त समीपता से सबके साथ सम्पर्कवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **उप**=आप हमें समीपता से प्राप्त होओ। **अस्मिन् गोष्ठे**=इस ज्ञानसभा में **नः उपपृच**=हमारे साथ सम्पृक्त होओ। ज्ञान-चर्चाओं को करते हुए हम आपके साथ सम्पृक्त हों। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **ऋषभस्य तव**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा आपका **यत् रेतः**=जो प्रजनन सामर्थ्य व **वीर्यम्**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला सामर्थ्य है, वह हमें **उप उप**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—ज्ञानचर्चाओं को करते हुए हम प्रभु से दूर न हों। प्रभु से हमें रेतस् व वीर्य की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**जगती**॥

आत्मक्रीड़

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ २४॥

१. हे जीवो! **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **एतं युवानं प्रतिदध्मः**=इस (यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से पृथक् करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले प्रभु के प्रति धारण-करते हैं, अर्थात् प्रभु से तुम्हारा मेल कराते हैं। **तेन**=उस प्रभु के साथ **क्रीडन्तीः**=क्रीड़ा करते हुए तुम **वशान् अनु चरत**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में प्रभु के साथ गति करो। जितना-जितना तुम इन्द्रियों को वश में करोगे, उतना-उतना ही प्रभु के साथ विचरनेवाले बनोगे। आत्मक्रीड़ बनो, इन्द्रियों को वश में करो तथा प्रभु के साथ विचरो। २. यह आत्मवशी प्रार्थना करता है कि—हे **सुभागाः**=उत्तम ऐश्वर्यवाली वेदवाणियो! आप **नः**=हमें **जनुषा मा हासिष्ट**=जन्म से ही मत छोड़ो, अर्थात् जन्म से ही हमारा तुम्हारे साथ सम्बन्ध बना रहे **च**=तथा **रायः पोषैः**=धन के पोषणों के साथ **नः**=हमें **सचध्वम्**=समवेत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के साथ मेल बनाये रक्खें, आत्मक्रीड़ बनते हुए जितेन्द्रिय बनें। जन्म से ही वेदवाणियों के साथ हमारा सम्बन्ध हो और हम धनों का पोषण प्राप्त करें।

विशेष—वेदवाणियों में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले सूक्त का ऋषि यह भृगु ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तृतीयं नाकम्

आ नऽयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥ १॥

१. **एतम्**=गतमन्त्र में वर्णित इस 'युवा (प्रभु)' को **आनय**=अपने हृदयदेश में प्राप्त करा और **आरभस्व**= कर्त्तव्य-कर्मों का आरम्भ कर, प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों में लग जा। **प्रजानन्**=ज्ञानवाला होता हुआ पुरुष **सुकृतां लोकम्**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक को **अपि गच्छतु**=प्राप्त हो। २. **महान्ति तमांसि**=महान् अन्धकारों को **बहुधा**=नाना प्रकार से **तीर्त्वा**=तैरकर **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से परे फेंकनेवाला यह 'पञ्चौदन' (पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला) जीव **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर दुःख के अभाववाले तृतीय सुखमय (आनन्दस्वरूप) प्रभु में **आक्रमताम्**=विचरण करे। प्रकृति के भोगों से हम ऊपर उठें तथा जीव के प्रति भी मोह (राग-द्वेष) से दूर हों। इसप्रकार हम आनन्दमय प्रभु में विचरनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए। हम पुण्यकर्मा लोगों के लोकों को प्राप्त करें। अन्धकार से ऊपर उठकर हम प्राकृतिक भोगों व जीव के प्रति राग-द्वेष में न उलझते हुए तृतीय स्थान में स्थित आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्राय यजमानाय

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन्यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान्रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः॥ २॥

१. **भागम्**=सेवनीय (भज सेवायाम्) **सूरिम्**=ज्ञानी प्रभु को **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **यजमानाय**=यज्ञशील **त्वा**=तेरे लिए **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **परिनयामि**=प्राप्त कराता हूँ। जितेन्द्रिय व यज्ञशील पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनता है। २. **ये**=जो **नः**=हमें **द्विषन्ति**=अप्रीति से वर्तते हैं, अर्थात् जो दोष हमारे लिए हानिकर होते हैं, **तान् अनु**=उन्हें लक्ष्य करके **रभस्व**=(clasp, embrace) उस प्रभु का आलिंगन करनेवाला बन। प्रभु का आलिंगन इन सब अप्रीतिकर दोषों को दूर कर देगा। इस निर्दोष जीवनवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वीराः**=वीर सन्तान **अनागसः**=निर्दोष होते हैं। वे सन्तान यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व यज्ञशील बनते हुए उस भजनीय, ज्ञानी प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु का आलिंगन हमारे जीवन को निर्दोष बनाएगा। निर्दोष यज्ञशील पुरुष के सन्तान भी निष्पाप ही बनते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापुरोऽतिशक्वरी जगती** ॥

शुद्धैः शफैः

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप इस उपासक के **पदः**=पाँव से **दुश्चरितम्**=दुश्चरित को **प्र+अव+नेनिग्धि**=प्रकर्षेण दूर धो डालिए, **यत् चचार**=जिस भी दोष को इसने किया है, उस सब

दुश्चरित को इससे पृथक् कीजिए। अब यह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **शुद्धैः शफैः**=(शम् शान्तिकरणे आलोचने च) पवित्र, शान्त विचारों के साथ **आक्रमताम्**=समन्तात् कार्यों में प्रवृत्त हो। २. यह **अजः**=गति के द्वारा मलों को परे फेंकनेवाला जीव **बहुधा विपश्यन्**=बहुत प्रकार से देखता हुआ—यह आलोचना करता हुआ कि उसका यह कार्य किसी की हानि का कारण तो न बनेगा—**तमांसि तीर्त्वा**=अज्ञान-अन्धकारों को तैरकर **तृतीयं नाकम्**=तृतीय—प्रकृति व जीव से ऊपर परमात्मरूप—आनन्दमय मोक्षधाम में **आक्रमताम्**= विचरनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे पाँव दुश्चरित से सदा दूर रहें। हम सदा शान्त विचारों के साथ गति करें। अन्धकारों को तैरकर प्रकाशमय लोकों में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्यामेन असिना

अनु॒ च्छ्य श्या॒मेन॒ त्वच॑मे॒तां वि॑शस्तर्यथाप॒र्व॒॑सिना॒ माभि मं॑स्थाः।
माभि द्रु॑हः पर॒शः क॑ल्पयैनं तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यैनम्॥ ४॥

१. हे **विशस्तः**=विशेषरूप से प्रभु-शंसन करनेवाले व पापों को काटनेवाले साधक! **एतां त्वचम्**=ज्ञान पर आये हुए मलिनता व अज्ञान के आवरण को तू **श्यामेन**=(श्येङ् गतौ) गतिशील **असिना**=(अस दीप्तौ) ज्ञानदीप्ति से—क्रियायुक्त ज्ञान से **यथापरु**=एक-एक पर्व करके **अनुच्छ्य**=काट डाल। २. इस मलिनता को दूर करके भी **मा अभिमंस्थाः**=अभिमान मत कर, **मा अभिद्रुहः**=किसी भी प्राणी से द्रोह न कर। **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह को **परुशः**=एक-एक पोरी करके **कल्पय**=काट डाला। इसप्रकार **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह से शून्य आत्मा को **तृतीये नाके अधिविश्रय**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय (न अकः) दुःखरहित आनन्दमय प्रभु में आश्रित कर।

भावार्थ—क्रियायुक्त ज्ञान से हम मलिनता के आवरण को नष्ट करें। अभिमान व द्रोह से रहित होकर अपने को प्रभु में स्थापित करें। प्रभु ही 'तृतीय नाक' हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुम्भी का अग्नि पर श्रयण

ऋ॒चा कु॒म्भीमध्य॒ग्नौ श्र॑या॒म्या सि॑ञ्चोद॒कमव॑ धेह्योनम्।
प॒र्याध॑त्ताग्निना॒ शमि॑तारः शृ॒तो ग॑च्छतु सु॒कृता॑मु॒ यत्र॑ लो॒कः॥ ५॥

१. **ऋचा**=विज्ञान के हेतु से **कुम्भीम्**=इस अपने शरीर-कलश को **अग्नौ अधिश्रयामि**=ज्ञानाग्नि के पुञ्जभूत आचार्य में अधिश्रित करता हूँ। शरीर कलश है, यह सोलह कलाओं का आधार है। आचार्य इसे ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है। एक ब्रह्मचारी ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से आचार्य की ज्ञानाग्नि में परिपक्व होने के लिए अपने को आचार्य के प्रति अर्पित करता है और आचार्य से कहता है कि इस कुम्भीरूप मुझमें **उदकम्**=ज्ञान-जल को **आसिञ्च**=सिक्त कीजिए। **एनम्**=इस मुझे **अवधेहि**=दूषित प्रवृतियों से दूर (अव) स्थापित कीजिए (धेहि)। २. **शमितारः**=(शम् आलोचने) हे उत्तम आलोचन (तत्त्वदर्शन) से युक्त आचार्यो! मुझे **अग्निना**=ज्ञानाग्नि से **परि आधत्त**=चारों ओर से धारण करो। मैं ज्ञानाग्नि में आहित हुआ-हुआ अपने को परिपक्व कर पाऊँ। **शृतः**=ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह आपका शिष्य वहाँ **गच्छतु**=जाए, **यत्र**=जहाँ कि **सुकृतां लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का निवास है, अर्थात् ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह व्यक्ति एक उत्तम गृही बने।

भावार्थ—विज्ञान के हेतु से हम आचार्य के समीप रहते हुए अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें और दूषित प्रवृत्तियों से दूर रहते हुए परिपक्व ज्ञानवाले बनकर सद्गृहस्थ बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तप्त चरु व ज्योतिर्मय लोक

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम्॥ ६॥

१. हे जीव! **चेत्**=यदि तू **अतः**=ज्ञानाग्नि में परिपाकरूप इस कार्य से **परि अतप्तः**=सब प्रकार से सन्तप्त (दुःखी) नहीं हो गया, अर्थात् आचार्यकुल में निवास की तपस्या से तू व्याकुल व निर्विण्ण नहीं हो गया तो **तप्तात् चरोः**=खूब दीप्त ज्ञान के भोजन से (चर गतौ, गतिः=ज्ञानम्) **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति और जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में **अधि उत्क्राम**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। २. हे साधक! तू **अग्नेः अधि**=अग्निरूप आचार्य से **अग्निः संबभूविथ**=अग्नि ही बन गया है। आचार्य ज्ञानाग्नि से दीप्त था, तू भी ज्ञानाग्नि से दीप्त बना है, अतः अब **एतम्**=इस **ज्योतिष्मन्तम्**=प्रकाशमय **लोकम् अभिजय**=लोक को जीतनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्यकुल मे तपस्यापूर्वक निवास करता हुआ ब्रह्मचारी यदि अपने को ज्ञानाग्नि में खूब परिपक्व करता है तो इस संसार में प्राकृतिक भोगों व पारस्परिक कलहों का शिकार न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है और अपने गृहस्थ को भी ज्योतिर्मय बना पाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अज='अग्नि+ज्योति'

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ७॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव **अग्निः**=अग्नि है, यह प्रगतिशील होता है, **उ**=और **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले को **ज्योतिः आहुः**=प्रकाश कहते हैं। यह अज प्रकाशमय जीवनवाला होता है। **जीवता**=जीवन को धारण करनेवाले पुरुष से **अजम्**=इस अज को—जीवात्मा को **ब्रह्मणे**=प्रभु व ज्ञान के लिए **देयम् आहुः**=देने योग्य कहते हैं। हमें चाहिए कि हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें और ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रत् दधानेन दत्तः**=श्रद्धायुक्त पुरुष से प्रभु के प्रति अर्पित किया हुआ **अजः**=आत्मा—गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला व्यक्ति **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को दूर फेंकते हुए गतिशील व ज्योतिर्मय जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए श्रद्धामय जीवनवाले बनकर अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पञ्चौदन

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ ८॥

१. प्रभु ने जीव को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानरूप भोजनों को प्राप्त करने के लिए दी हैं, अतः जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता हुआ 'पञ्चौदन' कहलाता है। यह

पञ्चौदनः=पञ्चौदन जीव **त्रीणि**=तीन **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **आक्रंस्यमानः**=आक्रान्त (प्राप्त) करने की इच्छा करता हुआ **पञ्चधा विक्रमताम्**=पाँच प्रकार से विक्रमवाला हो, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे। प्रकृति का ज्ञान 'प्रथम ज्योति' है, जीव का ज्ञान 'द्वितीय ज्योति' तथा परमात्मा का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। इसे इन तीनों ही ज्योतियों को प्राप्त करना है। यह सम्भव तभी होगा जबकि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति को ही मुख्य उद्देश्य बनाये रक्खेंगी। इनका विषयों की ओर झुकाव होते ही ज्ञान-प्राप्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। २. अतः ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ तू **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **मध्यं प्रेहि**=मध्य में प्राप्त हो। तू भी यज्ञशील व सुकर्मा बनकर अपने को **तृतीये नाके अधिविश्रयस्व**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में स्थापित कर।

भावार्थ—हम पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के कार्य में लगे रहें। यज्ञशील व पुण्यकर्मा बनकर ब्रह्मलोक में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दुर्ग-लंघन

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति॥ ९॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव! तू **सुकृतां यत्र लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का जहाँ लोक है, वहाँ **आरोह**=आरोहण कर। तू **चत्तः**=(चति याचने, चत्तम् अस्य अस्तीति) याचना—प्रार्थनावाला होता हुआ **शरभः न**=(शृ हिंसायाम्) शरभ के समान होता है—सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाला होता है। ऐसा तू **दुर्गाणि अति एषः**=(इष् गतौ) सब दुर्गों को—कठिनाइयों को लाँघ जाता है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को प्राप्त करनेवाला जीव **ब्रह्मणे**=प्रभु के लिए **दीयमानः**=दिया जाता है—अर्पित होता है। **दातारम्**=अपने को प्रभु के लिए देनेवाले को **सः**=वे प्रभु **तृप्त्या तर्पयाति**=तृप्ति से प्राणित (आनन्दित) करते हैं। '**सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।**' (मुण्डकोपनिषत्)

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाले बनकर पुण्यकर्मा लोगों के लोक में आरूढ़ हों। प्रार्थनामय जीवनवाले बनकर शरभ के समान शत्रुओं को शीर्ण करते हुए दुर्गों को लाँघ जाएँ। ज्ञान-प्राप्ति में लगकर अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें। इस अर्पण करनेवाले को प्रभु आनन्दविभोर कर देते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कामदुघा धेनुः

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघाऽस्येका॥ १०॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव! **ददिवांसम्**=प्रभु के प्रति दे डालनेवाले अपने को **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में **दधाति**=स्थापित करता है। उस आनन्दमय लोक के आधार में स्थापित करता है जोकि **त्रिनाके**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से शून्य है (न+अक=दुःख), **त्रिदिवे**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों के प्रकाशवाला है, **त्रिपृष्ठे**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला जीव **ब्रह्मणे दीयमानः**=उस ब्रह्म के लिए दिया जाता है, यह ब्रह्म के प्रति अपना अर्पण कर डालता है। यह उस ब्रह्म का साक्षात् करते हुए

कह उठता है कि हे प्रभो! आप तो **विश्वरूपा**=सारे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का निरूपण करनेवाली **एका धेनुः असि**=वह अद्वितीय धेनु हो, जोकि **कामदुघा**=सब कामनाओं को पूरण करनेवाली है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को परे फेंकते हुए अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें और इसप्रकार अपने को मोक्ष-सुख में स्थापित करें। हम ब्रह्म को इसी रूप में अनुभव करें कि प्रभु 'विश्वरूपा कामधेनु' हैं। वे सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले व सब कामनाओं को पूरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तमो निवारण

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ११॥

१. हे **पितरः**=पालन करनेवाले जीवो! **एतत्**=यह **वः**=तुम्हारे लिए **तृतीयं ज्योतिः**=तृतीय ज्योति है। प्रकृति व जीव के ज्ञान के पश्चात् प्रभु का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। ये प्रभु **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव को **ब्रह्मणे ददाति**=ज्ञान के लिए दे देते हैं। इसे निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने की प्रवृत्तिवाला बनाते हैं। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रद्दधानेन**=श्रद्धायुक्त मन से **दत्तः**=उस प्रभु के प्रति दिया हुआ (दत्तं यस्य अस्ति) **अजः**=यह जीव **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है। जब जीव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है तब उसका सब अज्ञान-अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान ही 'तृतीय ज्योति' है। इसे प्राप्त करनेवाला अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है। प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला उपासक अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकता है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इस लोक पर विजय व परमानन्द-प्राप्ति

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन्पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
स व्या ∫ प्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३स्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥ १२॥

१. **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **लोकम् ईप्सन्**=लोक को चाहता हुआ व्यक्ति **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले अपने को **ब्रह्मणे ददाति**=ब्रह्म के लिए दे डालता है। जो भी पुण्यलोक की कामना करता है, वह अपने को ब्रह्म के प्रति दे डालता है। २. **सः**=वह तू **व्याप्तिम् अभि**=(वि आप्ति) सुखविशेष की प्राप्ति का लक्ष्य करके **एतं लोकं जय**=इस लोक को जीतनेवाला बन। इस लोक के विजय के बिना उस परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। वह **प्रतिगृहीतः**=प्रत्येक पिण्ड (वस्तु) में ग्रहण किया गया—प्रत्येक वस्तु में विद्यमान प्रभु **अस्मभ्यं शिवः अस्तु**=हमारे लिए कल्याणकर हो।

भावार्थ—उत्तम लोकों को प्राप्त करने की इच्छा से हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। परमानन्द की प्राप्ति के लिए इस लोक की विजय आवश्यक है। प्रत्येक पिण्ड में विद्यमान प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अज, विप्र, विपश्चित्

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद्विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद्देवा ऋतुशः कल्पयन्तु॥ १३॥

१. **अग्नेः**=प्रकाशमय अग्रणी प्रभु की **शोकात्**=दीप्ति से यह उपासक भी **हि**=निश्चय से **अजः अजनष्टि**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनता है। प्रभु की दीप्ति इसके जीवन को पवित्र बना डालती है। यह **विप्रस्य**=(वि+प्रा) विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभु के **सहसः**=बल से **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला **विपश्चित्**=ज्ञानी बनता है। २. यह 'अज, विप्र, विपश्चित्' गति-(कर्म)-शील, अपना पूरण करनेवाला (उपासना), ज्ञानी (ज्ञान) देव बनता है। ये **देवाः**=देव **वषट् कृतम्**=जिसमें स्वार्थ की आहुति दे दी जाती है, **तत् इष्टम्**=उस यज्ञ को तथा **अभिपूर्तम्**=मनुष्यों व पशु-पक्षियों—दोनों के पूरण करनेवाले **पूर्तम्**=वापी, कूप तड़ागादि के निर्माणरूप कार्य को **ऋतुशः**=प्रत्येक ऋतु में—ऋतु की आवश्यकता के अनुसार **कल्पयन्तु**=सिद्ध करें। इष्ट व पूर्त के द्वारा ये संसार को सुखमय बनाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति जीवों को 'अज'=गति द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनाती है। 'सर्वतः पूर्ण' प्रभु की शक्ति से यह जीव पूर्ण व ज्ञानी (विप्र-विपश्चित्) बनता है। इन देवपुरुषों को चाहिए कि ऋतु के अनुसार 'इष्ट और पूर्त' को सिद्ध करते हुए संसार का पूरण करें—इसे सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अमोतं वासः+हिरण्यम्'=दक्षिणा (प्रभुदक्षिणा)

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः॥ १४॥

१. जीव को कर्मानुसार यह शरीर प्राप्त होता है। यह शरीर एक वस्त्र है जोकि हमारे कर्मों से बुना गया है (वासांसि जीर्णानि यथा विहाय)। इस **अमा उतम्**=हमारी गतियों (अम गतौ) से बुने गये **वासः**= शरीररूप वस्त्र को तथा **हिरण्यम् अपि**=(हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः) अपनी शक्ति व ज्योति को भी **दक्षिणां दद्यात्**=दक्षिणारूप से प्रभु को दे दे। वस्तुतः प्रभु ही तो हमारे जीवन-यज्ञ को चला रहे हैं, अतः इस 'शरीर, शक्ति व ज्योति' को प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में देना ही चाहिए। इन्हें प्रभु का ही समझना न कि अपना। २. **तथा**=वैसा करने पर, अर्थात् 'शक्ति व ज्योति' सहित शरीर को प्रभु के प्रति अर्पण करने पर यह उपासक **लोकान्**=उन सब लोकों को **समाप्नोति**=प्राप्त करता है, ये **दिव्याः**=जो दिव्य लोक हैं **च**=और **ये पार्थिवाः**=जो पार्थिव लोक हैं। दिव्य लोक मस्तिष्क है और पार्थिक लोक यह शरीर है। प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देनेवाले व्यक्ति का शरीर शक्ति से पूर्ण होता है तथा इसका मस्तिष्क ज्योति से देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम कर्मानुसार प्राप्त इस शरीर को, शरीर की शक्ति व ज्योति को हमारे जीवन-यज्ञ का संचालन करनेवाले प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में दे दें। ऐसा करने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही उत्तम बनते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाशमय व आनन्दमय लोक में

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ॥ १५॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले जीव! **एताः**=ये **सोम्याः**=सोम-सम्बन्धी (वीर्य की) **धाराः**=धारणशक्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों। ये धाराएँ **देवीः**=सब रोगों की विजिगीषावाली हैं—नीरोग बनानेवाली हैं, **घृतपृष्ठाः**=ज्ञानदीप्ति से सिक्त करनेवाली हैं (पृष् सेचने) और **मधुश्चुतः**=हृदय में माधुर्य को क्षरित (संचरित) करनेवाली हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हमें नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर स्वभावाला बनाता है। २. इस सोमरक्षण के द्वारा तू **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **स्तभान**=थाम। तू सोम-रक्षण करता हुआ शरीर को शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बना। ऐसा करता हुआ तू **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में स्थित हो तथा **सप्तरश्मौ अधि**=सप्त छन्दोमयी ज्ञान किरणोंवाली इस वेदवाणी में स्थित हो।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम जीवन को नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर बनाएँ। शरीर व मस्तिष्क का धारण करते हुए प्रकाशमय व आनन्दमय लोकों में विचरें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्** ॥

अज—स्वर्ग

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ १६॥

१. हे **अज**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशील जीव! तू **अजः असि**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से दूर फेंकनेवाला है। बुराइयों को दूर फेंककर **स्वर्गः असि**=प्रकाश व सुख की ओर जानेवाला है। **त्वया**=तेरे साथ **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले ये गतिशील लोग **लोकं प्रजानन्**=उस प्रकाशमय प्रभु को जान पाते हैं। तेरे साथ ज्ञानचर्चा करते हुए वे अङ्गिरस् प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. मनुष्य यही कामना करे कि **तम्**=उस **लोकम्**=प्रकाशमय **पुण्यम्**=पवित्र प्रभु को **प्रज्ञेषम्**=मैं जान पाऊँ। अन्ततः यह ज्ञान ही मनुष्य का कल्याण करनेवाला है।

भावार्थ—जीव 'अज' है, 'स्वर्ग' है। उसे गतिशील बनकर बुराई को अपने से परे फेंक कर प्रकाश प्राप्त करना है। उसके साथ ज्ञानचर्चा करते हुए अन्य लोग भी प्रभु को जान पाएँ। इस 'अज' की एक ही कामना हो कि 'मैं उस प्रकाशमय पवित्र प्रभु को प्राप्त कर पाऊँ'।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व स्वर्ग

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्व दिवेषु गन्तवे॥ १७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **येन**=जिस सामर्थ्य से आप **सहस्रम्**=इन हज़ारों लोक-लोकान्तरों को **वहसि**=धारण करते हैं और **येन**=जिस सामर्थ्य से **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण ज्ञान व ऐश्वर्य (विद् लाभे) को धारण करते हैं, **तेन**=उसी सामर्थ्य से **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः वह**=हमें प्राप्त कराइए। इस यज्ञ द्वारा हम **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में स्थित होते हुए **स्वः गन्तवे**=प्रकाश व सुख को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु सब लोकों, ऐश्वर्यों व ज्ञानों को धारण करनेवाले हैं। प्रभु हमें यज्ञों को प्राप्त

कराएँ, जिससे हम देव बनकर स्वर्ग को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'पञ्चौदन पक्व अज'

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम॥ १८॥

१. **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ, **अतएव पक्वः**=ज्ञान में परिपक्व हुआ-हुआ **अजः**=गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव **निर्ऋतिम्**=विनाश को **बाधमानः**=रोकता हुआ—अपने को पतन के मार्ग से दूर करता हुआ **स्वर्गे लोके दधाति**=अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करता है। स्वर्ग को प्राप्त करने का मार्ग यही है कि हम 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनें और दुर्गति को अपने से दूर करें। **तेन**=उसी मार्ग से हम भी **सूर्यवतः लोकान्**=(ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) सूर्यसम दीप्त ब्रह्मवाले लोकों को **जयेम**=जीतनेवाले बनें, अर्थात् हम भी 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनकर निर्ऋति का बाधन करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम इस जीवन में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों। इसप्रकार अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें। गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले बनें। पतन के मार्ग को अपने से दूर रक्खें। इससे हमारा जीवन स्वर्गोपम बनेगा और हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'आदित्य, रुद्र व वसु' ब्रह्मचारियों का ज्ञान

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुषं ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम्॥ १९॥

१. **यम्**=जिस आत्मज्ञान को प्रभु ने **ब्राह्मणे निदधे**=ब्रह्मज्ञानी में (आदित्य ब्रह्मचारी में) स्थापित किया है, **च**=और **यम्**=जीव के कर्त्तव्यों के जिस ज्ञान को **विक्षु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाओं में (रुद्र ब्रह्मचारियों में) रक्खा है तथा **या**=जो **अजस्य**=जीवात्मा के **ओदनानाम्**=प्रकृति विज्ञानों के **विप्रुषः**=जलकण हैं, (जिन्हें कि वसु ब्रह्मचारी प्राप्त करते हैं), हे **अग्ने**=प्रभो! **तत् सर्वम्**=वह सब—ब्रह्मज्ञान, जीव-कर्त्तव्यज्ञान व प्रकृति विज्ञान **नः**=हमें भी **जानीतान्**=जाने, अर्थात् हमें भी प्राप्त हो। २. यह ज्ञान हमें उस समय प्राप्त हो जबकि हम **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में निवास करनेवाले बनें तथा **पथीनां संगमने**=मार्गों पर सम्यक् गमन करनेवाले हों। पुण्य-कर्मों को करते हुए व मार्ग-भ्रष्ट न होते हुए हम उस सब ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु जो आत्मज्ञान आदित्य ब्रह्मचारियों को प्राप्त कराते हैं, जिस जीवनकर्त्तव्य-ज्ञान को रुद्र ब्रह्मचारियों को देते हैं तथा जो प्रकृतिविज्ञान के बिन्दु वसु ब्रह्मचारियों को प्राप्त होते हैं, हम पुण्य-कर्म करते हुए व शुभ-मार्ग पर बढ़ते हुए, उस सब ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

विराट् पुरुष

अजो वा इदमग्रे व्य क्रमत तस्योरः इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ २०॥

१. **अजः**=उस (न जायते) अजन्मा प्रभु ने **वा**=निश्चय से **इदम्**=इस जगत् को **अग्रे**=सर्वप्रथम **व्यक्रमत**=(वि अक्रमत) नाना प्रकार से रचा। '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' उसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु का शरीर-सा हो गया—यही विराट् पुरुष हुआ। २. **तस्य**=उस विराट् पुरुष की **इयम्**=यह पृथिवी ही **उरः अभवत्**=छाती हुई, **द्यौः पृष्ठम्**=द्युलोक पीठ बनी और **अन्तरिक्षं मध्यम्**=अन्तरिक्ष ही मध्यभाग हुआ। **दिशः पार्श्वे**=दिशाएँ पार्श्वभाग बनी और **समुद्रौ**=पृथिवीस्थ समुद्र तथा अन्तरिक्षस्थ समुद्र (मेघ) **कुक्षी**=कुक्षी-प्रदेश (कोख) हुए।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष के शरीर के समान है। पृथिवी छाती है, द्युलोक पीठ, अन्तरिक्ष मध्य है और दिशाएँ पार्श्वभाग हैं। पृथिवी व अन्तरिक्षस्थ समुद्र उस विराट् पुरुष के कुक्षी-प्रदेश हैं।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्**॥

सत्य व ऋतरूप आँखें

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः॥ २१॥

१. **सत्यं च ऋतं च**=जीवात्म-सम्बन्धी नियम तथा प्रकृति-सम्बन्धी नियम **चक्षुषी**=उस विराट् पुरुष की आँखें हैं, **विश्वं सत्यम्**=सब सत्यज्ञान तथा **श्रद्धा**=श्रद्धा—उस विराट् शरीर में **प्राणः**=प्राण हैं। **विराट्**=विशिष्ट रूप से दीप्त सूर्यादि पिण्ड **शिरः**=उसके शिर-स्थानीय हैं। २. प्रभु के विराट् शरीर की यह कल्पना हुई है, परन्तु वस्तुतः **एषः**=यह प्रभु **वा**=निश्चय से **अपरिमितः**=किसी भी प्रकार से सीमित नहीं है। वे प्रभु **यज्ञः**=पूजनीय—संगतिकरण योग्य व दानीय (अर्पणीय) हैं। **यत्**=जो ये **अजः**=अजन्मा प्रभु हैं, वे **पञ्चौदनः**=प्रलय के समय पाँचों भूतों से बने इस संसार को ओदन के रूप में ले-लेते हैं। '**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने। मृत्युर्यस्योपसेचनम्**'।

भावार्थ—सत्य और ऋत उस विराट् पुरुष की आँखें हैं। सत्यज्ञान और श्रद्धा प्राण हैं, देदीप्यमान सूर्यादि पिण्ड सिर हैं। वस्तुतः वे प्रभु अपरिमित हैं, पूजनीय हैं, अजन्मा हैं और प्रलयकाल के समय पञ्चभूतों से बने इस संसार को खा-सा जाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु व प्रभु-प्रकाश की प्राप्ति

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्द्धे।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २२॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान के प्रकाशवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को—प्रभु के ज्ञान को **ददाति**=पात्रभूत शिष्यों के लिए देता है, वह **अपरिमितम्**=उस असीम **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **एव आप्नोति**=ही प्राप्त होता है और **अपरिमितं लोकम्**=अपने में अनन्त ज्ञान को **अवरुन्धे**=रोकनेवाला बनता है—खूब ही ज्ञान के प्रकाशवाला होता है।

भावार्थ—औरों को प्रभु का ज्ञान देता हुआ ज्ञानी प्रभु को व प्रभु-प्रकाश को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

स्वस्थ व दृढ़ शरीर का प्रभु के प्रति अर्पण

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ञो निर्धयेत्। सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत्॥ २३॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि **अस्य**=इस शरीर की **अस्थीनि**=हड्डियों को **न भिन्द्यात्**=न तोड़े। इस शरीर की अस्थियों को दृढ़ बनाये। **मज्ञः न निर्धयेत्**=मज्जाओं को भी पी न जाए—इन्हें सारशून्य न कर दे। इसप्रकार **एनम्**=इस शरीर को **सर्वम्**=पूर्ण व स्वस्थ (Whole) **समादाय**=लेकर **इदम् इदम्**=इस शरीर को इस प्रभु में ही **प्रवेशयेत्**=प्रविष्ट कर दे। अपने को पूर्णरूप से प्रभु में अर्पित करनेवाला बने।

भावार्थ—हम स्वस्थ व दृढ़ शरीरवाले बनकर इस स्वस्थ व दृढ़ शरीर को प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताविराड्जगती** ॥

इषं, मह, ऊर्जम्

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २४॥

१. **इदम् इदम् एव**=यह यह ही, अर्थात् प्रत्येक प्राणी ही **अस्य रूपं भवति**=इस प्रभु का रूप होता है। **तेन एनं संगमयति**=उस प्रभु के साथ इस आत्मा को यह मिला देता है, अर्थात् प्राणियों की सेवा में लीन होकर यह अपने को प्रभु के साथ युक्त कर लेता है। प्राणियों की सेवा ही इसका प्रभुपूजन हो जाती है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो प्रभु का सच्चा भक्त है। २. **यः**=जो उस **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने जगत् को ओदन के रूप में प्रलयकाल के समय अपने अन्दर ले-लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले (सर्वत्र दानों के प्रकाशवाले) **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=इसके लिए प्रभु **इषम्**=प्रेरणा, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति तथा **महः**=तेजस्विता प्रदान करते हैं।

भावार्थ—सब प्राणियों में प्रभु के रूप को देखते हुए हम अपने को प्रभु में संगत कर दें। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करेंगे तो प्रभु हमें 'प्रेरणा, बल व तेजस्विता' प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**२५ पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्, २६ त्रिष्टुप्** ॥

दीप्ति-ही-दीप्ति तथा स्वर्ग-प्राप्ति

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २५॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे ∫ भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २६॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने संसार को प्रलयकाल में अपना ओदन बना लेता है उस **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र दानों व प्रकाशवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=अपने को प्रभु के लिए अर्पण करनेवाले इस पुरुष के लिए **पञ्च रुक्मा**=पाँचों कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हुई-हुई देदीप्यमान (रुच दीप्तौ) **भवन्ति**=हो जाती हैं। **पञ्च वस्त्रा**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व

आनन्दमय' कोशरूप पाँचों वस्त्र **नवानि**=नये व स्तुत्य हो जाते हैं। **पञ्च धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **कामदुघाः**=कमनीय ज्ञानदुग्ध को देनेवाली व सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो जाती हैं। २. **पञ्च रुक्मा**=देदीप्यमान पाँचों इन्द्रियाँ **अस्मै**=इसके लिए **ज्योतिः भवन्ति**=प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाती हैं। **वासांसि**=पाँचों कोशरूप वस्त्र **तन्वे**=इसके शरीर के लिए व शक्ति-विस्तार के लिए **वर्म भवन्ति**=कवच बन जाते हैं। इन कवचों से आवृत्त हुआ-हुआ यह किन्हीं भी वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। इसप्रकार यह **स्वर्गं लोकम् अश्नुते**=स्वर्गलोक को प्राप्त करता है—आनन्दमय जीवनवाला व मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण करने से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं, पाँचों कोश स्तुत्य बनते हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कमनीय व ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली होती हैं। यह समर्पक स्वर्ग व आनन्दमय लोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभुस्मरणपूर्वक सखा का वरण

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ २७॥

१. **या**=जो युवति **पूर्वम्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले (पॄ पालनपूरणयोः) **पतिम्**=रक्षक प्रभु को **वित्त्वा**=प्राप्त करके **अथ**=अब **अन्यम्**=दूसरे **अपरम्**=और पति को **विन्दते**=प्राप्त करती है, अर्थात् यह युवति सर्वरक्षक प्रभु को साक्षी बनाकर लौकिक सखा (पति) को स्वीकार करती है, **च**=और यदि **तौ**=वे दोनों पति-पत्नी **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददातः**=अपने को दे डालते हैं, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देते हैं तो **न वियोषतः**=कभी पृथक् नहीं होते। इन्हें विधुरता व वैधव्य का कष्ट नहीं सहना पड़ता—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरणपूर्वक एक युवति अपने जीवनसाथी को चुनती है और गृहस्थ में यदि ये दोनों प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, तो ये एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समानलोकता

समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २८॥

१. प्रभु को अपना प्रथम पति समझनेवाली युवति जब एक लौकिक पति का वरण करती है तब यह 'पुनर्भूः' कहलाती है। प्रभु से भिन्न **यः**=जो **अपरः पतिः**=दूसरा लौकिक पति है, वह **पुनर्भुवा**=उस पुनर्भू युवति के साथ **समानलोकः भवति**=समान लोक में रहनेवाला होता है। होता यह तभी है यदि वह **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को **ददाति**=अपने को दे डालता है, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला युवक अपने जीवन-साथी (पत्नी) के साथ समान लोक में निवास करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण से 'अभ्युदय-निःश्रेयस' की सिद्धि

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्॥ २९॥

१. **ते**=वे गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पति-पत्नी **दत्त्वा**=प्रभु के प्रति अपने को देकर, अर्थात् अपना आत्म-समर्पण करके **अनुपूर्ववत्साम्**=यथाक्रम (एक के पीछे दूसरे) बछड़ों को देनेवाली **धेनुम्**=गौ को **अनड्वाहम्**=कृषि व शकट-वहन के साधनभूत बैल को, **उपबर्हणम्**=तकिया आदि विष्टर सामग्री को, **वासः**=वस्त्रों को व **हिरण्यम्**=सोने (धन-धान्य) को **यन्ति**=प्राप्त होते हैं और ये **उत्तमां दिवम् (यन्ति)**=सर्वोत्कृष्ट प्रकाशमय लोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करनेवाले पति-पत्नी ऐहिक ऐश्वर्य (अभ्युदय) को प्राप्त करके आमुष्मिक निःश्रेयस (उत्तमां दिवम्) को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

इष्ट-बन्धु-स्मरण

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये॥ ३०॥

१. गृहस्थ को समय-समय पर इष्ट-बन्धुओं को आमन्त्रित करना ही चाहिए। उन प्रसङ्गों में सर्वप्रथम **आत्मानम् उपह्वये**=प्रभु को पुकारे। प्रभु-प्रार्थना से ही प्रत्येक कार्य का आरम्भ होना चाहिए। इसके बाद **पितरम्**=पिता को **पौत्रम्**=पुत्र-पौत्रों को **पितामहम्**=दादा को **जायाम्**=पत्नी को **जनित्रीं मातरम्**=जन्म देनेवाली माता को तथा **ये प्रियाः**=जो भी प्रिय इष्ट-बन्धु हैं **तान् (उपह्वये)**=उन सबको सम्मानपूर्वक पुकारे।

भावार्थ—घरों में जब कोई कार्यविशेष उपस्थित हो, तब उन अवसरों पर सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करना चाहिए, तदनन्तर पिता, दादा, माता, पत्नी व पुत्र-पौत्रों को भी बुलाना चाहिए। यज्ञ के समय घर के सब व्यक्ति उपस्थित हों। उस समय पत्नी पाकशाला में कुछ पका न रही हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**३१ सप्तपदाऽष्टि, ३२, ३३ दशपदाप्रकृतिः** ॥

नैदाघ, कुर्वन्, संयन्

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद। एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३१॥
यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३२॥
यौ वै संयन्तं नामर्तुं वेद।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।

निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३३॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **नैदाघं नाम ऋतुं वेद**='नैदाघ' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को ग्रहण करनेवाला **अजः**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला जीव ही **वै**=निश्चय से **नैदाघः नाम ऋतुः**=नैदाघ नामक ऋतु है। यह जीव नियमपूर्वक गतिवाला होने से ऋतु है (ऋ गतौ) अपने को ज्ञान व तपस्या की अग्नि में खूब ही दग्ध करनेवाला होने से 'नैदाघ' है। **यः**=जो नैदाघ **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों से बने संसार को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, वह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'काम' की **श्रियं निर्दहति एव**=शोभा को, दग्ध ही कर देता है और **आत्मना भवति**=अपने साथ होता है, अर्थात् अपना सन्तुलन नहीं खोता, शान्त रहता है। २. **यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'कुर्वन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **कुर्वन् नाम ऋतुः**=कुर्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से ऋतु है तथा निरन्तर क्रियाशील होने से 'कुर्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'क्रोध' की **कुर्वतीं कुर्वतीम्**=उन-उन कार्यों को करती हुई **श्रियम् आदत्ते**=श्री को छीन लेता है। क्रोध को श्रीशून्य (पराजित=विनष्ट) करके यह अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करने में लगा रहता है। ३. **यः संयन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'संयन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **संयन् नाम ऋतुः**=संयन् नामवाला ऋतु है। नियमित गति के कारण ऋतु है, तो संयम के कारण 'संयन्' है। यह पुरुष **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर 'लोभ' रूप शत्रु की **संयतीं संयतीम् एव**=हमें बारम्बार बाँधनेवाली **श्रियम्**=श्री को आदत्ते छीन लेता है। लोभ को विनष्ट करके यह इन्द्रियों का संयम करता हुआ सचमुच 'संयन्' बनता है।

भावार्थ—हम अपने को ज्ञान व तपस्या में दग्ध करके 'नैदाघ' बनें, निरन्तर कर्म करते हुए 'कुर्वन्' बनें, संयम को सिद्ध करते हुए 'संयन्' हों। 'नैदाघ' बनकर काम पर विजय करें, 'कुर्वन्' बनते हुए 'क्रोध' से दूर रहें तथा 'लोभ' को नष्ट करके 'संयन्' हों। इन सब बातों के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः**॥ छन्दः—**३४, ३५ दशपदाप्रकृतिः, ३६ दशपदाऽऽकृतिः**॥

पिन्वन्, उद्यन्, अभिभूः

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद।
पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै पिन्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३४॥
यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद।
उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वा उद्यन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।

निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो३॒जं पञ्चौ॑द॒नं दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३५॥
यो वा अ॑भि॒भुव॑ं नाम॒र्तुं वेद॑।
अ॒भि॒भव॑न्तीमभिभवन्तीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते।
ए॒ष वा अ॑भि॒भूर्ना॑म॒र्तुर्य॒दज॑: पञ्चौ॒दन॑:।
निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो३॒जं पञ्चौ॑द॒नं दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३६॥

१. **य:**=जो **वै**=निश्चय से **पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=पिन्वन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एष:**=यह **पञ्चौदन:**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन को ग्रहण करनेवाला **अज:**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव ही **पिन्वन् नाम ऋतु:**=पिन्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से 'ऋतु' है और वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होने से 'पिन्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिवाले शत्रुभूत 'मोह' की **पिन्वतीं पिन्वतीम्**=निरन्तर बढ़ती हुई **एव**=भी **श्रियम्**=श्री को **आदत्ते**=छीन लेता है। मोह को श्रीशून्य (विनष्ट) करके यह वस्तुत: वृद्धि को प्राप्त होता हुआ 'पिन्वन्' बनता है। २. **य:**=जो **वै**=निश्चय से **उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद**=उद्यन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एष:**=यह **पञ्चौदन: अज: वै**=पञ्चौदन अज ही **उद्यन् नाम ऋतु**=उद्यन् नामक ऋतु है। यह 'उद्यन् ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=मदरूप शत्रु की **उद्यतीम् उद्यतीम् एव श्रियम् आदत्ते**=उन्नत होती हुई श्री को छीन लेता है। मद को विनष्ट करके ही यह उत्थान को प्राप्त होता है। अभिमान ही तो पतन का हेतु बनता है। ३. **य:**=जो **वै**=निश्चय से **अभिभुवं नाम ऋतुं वेद**=अभिभू नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एष:**=यह **पञ्चौदन: अज: वै**=पञ्चौदन अज ही निश्चय से **अभिभू: नाम ऋतु:**=अभिभू नामक ऋतु है, वह 'अभिभू ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर मत्सररूप शत्रु की **अभिभवन्तीम् अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते**=अभिभूत करती हुई श्री को छीन लेता है। मात्सर्य को अभिभूत करके ही शत्रुओं का अभिभव कर पाते हैं।

भावार्थ—हम शक्तियों का वर्धन करते हुए 'पिन्वन्' बनें, उन्नत होते हुए 'उद्यन्' हों और सब शत्रुओं का अभिभव करके 'अभिभू' नामवाले हों। पिन्वन् बनकर मोह को परास्त करें, 'उद्यन्' होते हुए 'मद' को नष्ट करें तथा 'अभिभू' बनकर 'मत्सर' से ऊपर उठें।

ऋषि:—**भृगु:**॥ देवता—**अज: पञ्चौदन:**॥ छन्द:—**३७ त्रिपदाविराड्गायत्री, ३८ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)**॥

अज व ओदनों का पाचन

अ॒जं च॒ पच॑त॒ पञ्च॑ चौद॒नान्।
सर्वा॒ दिश॒: संम॑नसः स॒ध्रीची॒: सान्तर्दे॑शा॒: प्रति॑ गृह्णन्तु त ए॒तम्॥ ३७॥
तास्ते॑ रक्षन्तु तव॒ तुभ्य॑मे॒तं ताभ्य॒ आज्यं॑ ह॒विरि॒दं जु॑होमि॥ ३८॥

१. हे जीवो! **अजं च पचत**=उल्लिखित 'नैदाघ', 'कुर्वन्', 'संयन्', 'पिन्वन्', 'उद्यन्' व 'अभिभू' नामक वृत्तियों से जीवात्मा का ठीकरूप में परिपाक करो **च**=और **पञ्च ओदनान्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान-भोजनों का भी परिपाक करो। **सर्वा:**=सब **सान्तर्देशा:**=अन्तर्देशोंसहित **दिश:**=दिशाएँ—दिशाओं में स्थित प्राणी **संमनस:**=उत्तम मनवाले होकर **सध्रीची:**=सम्मिलित गतिवाले होकर **ते**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को **प्रतिगृह्णन्तु**=ग्रहण करनेवाले हों। ज्ञान-

परिपक्व व्यक्ति जब ज्ञान का प्रसार करे तब सब दिशाओं में स्थित प्राणी उस ज्ञान के ग्रहण की रुचिवाले हों। २. **ताः**=वे सब दिशाएँ **ते**=तेरी हों—तुझे उन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। **तव**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को (ज्ञान के ओदन को) **तुभ्यम्**=तेरे लिए **रक्षन्तु**=रक्षित करें। मैं **ताभ्यः**=उन सब दिशाओं के लिए—उनकी अनुकूलता के लिए **इदम्**=उस **आज्यम्**=घृत को और **हविः**=हवियों को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। अग्निहोत्र से वायु शुद्ध होकर नीरोगता प्राप्त होती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए नीरोगता की नितान्त आवश्यकता है।

भावार्थ—हम तपस्या की अग्नि में आत्मा का परिपाक करें तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों को प्राप्त करें। इस ज्ञान को सब दिशाओं में स्थित मनुष्य ग्रहण करें। हमें इन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। अग्निहोत्र द्वारा ये सब दिशाएँ शुद्ध वायुवाली होकर नीरोगता को सिद्ध करें।

॥ इति विंशः प्रपाठकः ॥

विशेष—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाला 'ब्रह्मा' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

अथैकविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम् (१) प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ नागीनामत्रिपाद्गायत्री, २ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

यः (संयमी)

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्य ङ्म्॥ १॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः॥ २॥

१. **यः**=(यम्+ड) संयमी पुरुष **प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्**=प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है। उस ब्रह्म को जानता है **यस्य**=जिसकी **संभाराः**=यज्ञ-सामग्रियाँ ही—यज्ञ के लिए एकत्र किये जानेवाले द्रव्य ही **परूंषि**=परु हैं—जोड़ हैं, **ऋचः**=ऋचाएँ ही **यस्य**=जिसकी **अनूक्यम्**=रीढ़ की हड्डी (spine) है। २. **सामानि**=साम-मन्त्र ही **यस्य**=जिसके **लोमानि**=लोम हैं, **यजुः**=यजुर्मन्त्र को **हृदयम्**=हृदय **उच्यते**=कहा जाता है और **परिस्तरणम्**=चारों ओर बिछाने के आसन ही **हविः**=हवि हैं—दानपूर्वक अदन हैं। इसप्रकार का पवित्र यज्ञमय जीवनवाला पुरुष ही मानो 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' है। एक संयमी पुरुष को चाहिए कि ऐसे अतिथि में ब्रह्म के दर्शन का प्रयत्न करे और उसका उचित सत्कार करे।

भावार्थ—पवित्र, यज्ञमय, वेदज्ञ, विद्वान् अतिथि में हम प्रत्यक्ष ब्रह्म को देखने का प्रयत्न करें और उसका उचित सम्मान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**३ साम्नीत्रिष्टुप्, ४ आर्च्यनुष्टुप्, ५ आसुरीगायत्री** ॥

अतिथियज्ञ—देवजन

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते॥ ३॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति॥ ४॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः॥ ५॥

१. **यत्**=जब **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक गृहपति (गृहस्थ Host) **अतिथीन् प्रतिपश्यति**= अतिथियों की ओर देखता है, तब वह **वै देवयजनं प्रेक्षते**=निश्चय से देवयजन को देखता है। वह यही सोचता है कि यह अतिथियज्ञ ही मेरा देवयज्ञ है। इसके द्वारा मैं अपने

साथ देवों का (दिव्य गुणों का) यजन करूँगा—दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनूँगा। २. **यत् अभिवदति**=जब अतिथि का अभिवादन करता है तब वह **दीक्षाम् उपैति**=यज्ञ में दीक्षा (व्रत-ग्रहण) को प्राप्त करता है। **यत्**=जब **उदकं याचति**=जल-पात्रों में जल के द्वारा 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' आदि लेने के लिए कहता है तब वह **अपः प्रणयति**=मानो देवयज्ञ में जलों को प्रणीता-पात्र में लाता है। ३. **याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते**=जो भी जल यज्ञ में प्रणीता-पात्र में लाये जाते हैं, **ताः एव ताः**=वे ही ये जल हैं जो अतिथियज्ञ में 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार 'देवयज्ञ' ही है। यह अपने जीवन में दिव्य गुणों को धारण करने का उत्तम साधन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**६ त्रिपदासाम्नीजगती, ७ साम्नीत्रिष्टुप्, ८ याजुषीत्रिष्टुप्, ९ आर्च्यनुष्टुप्**॥

आतिथ्य व स्वर्ग

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः॥ ६॥
यदावसथान्कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति॥ ७॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत्॥ ८॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे॥ ९॥

१. **यत्**=जो **तर्पणम्**=अतिथि के लिए तृप्तिकारक मधुपर्क आदि पदार्थ प्राप्त कराये जाते हैं और **यः एव**=जो **अग्नीषोमीयः**=अग्नि व सोम देवतावाला **पशुः बध्यते**=पशु बाँधा जाता है **सः एव सः**=वह तर्पण वह पशु ही हो जाता है। सिंह आदि अग्नितत्त्व प्रधान पशु हैं, तो गौ आदि सोमतत्त्व प्रधान। यज्ञों में दोनों प्रकार के ही पशु बाँधे जाते हैं। इसप्रकार यज्ञ में उपस्थित बालकों व युवकों को प्राणी-शास्त्र का ज्ञान खेल-खेल में ही हो जाता था। २. **यत्**=जो अतिथि के निवास के लिए **आवसथान् कल्पयन्ति**=उचित गृह बनाते हैं, **तत्**=वह एक प्रकार से **सदोहविर्धानानि**=(सदस) प्राचीन वंशगृह (सभास्थान) और हविर्धान नामक पात्रों को ही **कल्पयन्ति**=बनाते हैं। ३. **यत्**=जो अतिथि के लिए **उपस्तृणन्ति**=चारपाई या टाट बिछाते हैं, **तत् बर्हिः एव**=वह यज्ञ में कुशाओं का बिछौना ही है। ४. **यत् उपरिशयनम् आहरन्ति**=जो गद्दा लाकर चारपाई पर बिछाते हैं अथवा अपने से ऊँचे स्थान में अतिथि को सुलाते हैं तो **तेन**=उस अतिथि-सत्कार की क्रिया से **स्वर्गं लोकम् एव अवरुन्द्धे**=अपने लिए स्वर्गलोक को ही सुरक्षित कर लेते हैं (रोक लेते हैं)।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार हमारे घरों को स्वर्ग-तुल्य बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१० साम्नीभुरिग्बृहती, ११ साम्न्यनुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ साम्नीनिचृत्पङ्क्तिः**॥

अतिथि के लिए 'बिछौना, स्नान, भोजन' आदि की व्यवस्था

यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते॥ १०॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत्॥ ११॥
यत्पुरा परिवेषात्खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ॥ १२॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविषकृतमेव तद्ध्वयन्ति॥ १३॥

१. **यत्**=जो **कशिपु उपबर्हणम्**=(a bed) बिस्तरा वा तकिया **आहरन्ति**=प्राप्त कराते हैं,

ते परिधयः एव=वे यज्ञ में परिधि नामक पलाश-दण्डों के समान हैं (A stick of a sacred tree like पलाश laid around the sacrificial fire)। २. **यत्**=जो **आञ्जन**=आँखों के लिए अञ्जन वा **अभ्यञ्जनम्**=शरीर-मालिश के लिए तेल, उबटन आदि **आहरन्ति**=लाते हैं, **तत् आज्यम् एव**=वह यज्ञ में लाया जानेवाला घृत ही है। **यत्**=जो **परिवेषात्**=घर के लोगों के लिए भोजन परोसने से **पुरा**=पूर्व ही अतिथि के लिए **खादम् आहरन्ति**=भोजन लाते हैं, **तौ पुरोडाशौ एव**=वे यज्ञ की दो पुरोडाश आहुतियाँ ही हैं। ४. **यत्**=जो **अशनकृतं ह्वयन्ति**=भोजन बनानेवाले कुशल पुरुष को बुलाते हैं, **तत् हविष्कृतम् एव ह्वयन्ति**=वह यज्ञ में चरु तैयार करनेवाले पुरुष को ही बुलाते हैं।

भावार्थ—अतिथि के लिए रात्रि में सोने के लिए बिछौना और प्रातः उठने पर स्नान-सामग्री व तदनन्तर भोजनादि प्राप्त कराना—अतिथियज्ञ की ये सब क्रियाएँ देवयज्ञ की क्रियाओं के समान ही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१४-१६ साम्न्यनुष्टुप्, १७ त्रिपदाभुरिग्विराड्गायत्री**॥

अतिथियज्ञ की वस्तुएँ देवयज्ञ की वस्तुएँ

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते॥ १४॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते॥ १५॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः॥ १६॥
स्रुग्दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो ∫ वायव्या ∫ नि
पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्॥ १७॥

१. **ये**=जो **व्रीहयः यवाः**=अतिथियज्ञ के अवसर पर चावल व जौ **निरुप्यन्ते**=बिखेरे जाते हैं, **अंशवः एव ते**=वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं। २. **यानि**=जो भोजन की तैयारी के लिए **उलूखलमुसलानि**=ऊखल व मूसल हैं, **ग्रावाणः एव ते**=वे यज्ञ में सोम कूटने के लिए उपयोगी पत्थरों के समान हैं। ३. **शूर्पम्**=अतिथि के अन्नशोधन के लिए काम में लाया जानेवाला छाज **पवित्रम्**=सोम के छानने के लिए 'दशापवित्र' नामक वस्त्रखण्ड के समान जानना चाहिए, **तुषाः**=छाज से फटकने पर अलग हो जानेवाले अन्न के तुष **ऋजीषा**=सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं। **अभिषवणीः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले **आपः**=जल यज्ञ में सोमरस में मिलाने योग्य 'वसनीवरी' नामक जलधाराओं के समान हैं। ४. **स्रुक् दर्विः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए जो कड़छी है, वह यज्ञ के घृत-चमस के समान है, **आयवनम्**=भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि के चलाने का कार्य किया जाता है, वह **नेक्षणम्**=यज्ञ में बार-बार सोमरस को मिलाने के समान है। **कुम्भ्यः**=खाना पकाने के लिए जो देगची आदि पात्र हैं, वे **द्रोणकलशाः**=सोमरस रखने के लिए द्रोणकलशों के समान हैं। **पात्राणि**=अतिथि को खिलाने के लिए जो कटोरी, थाली आदि पात्र हैं, वे यज्ञ में सोमपान करने के निमित्त **वायव्यानि**=वायव्य पात्रों के समान हैं और अतिथि के लिए **इयम् एव**=जो उठने-बैठने के लिए भूमि है, वही **कृष्णाजिनम्**=यज्ञ की कृष्ण मृगछाला के समान है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुएँ देवयज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली उस-उस वस्तु के समान हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (२) द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ विराट्पुरस्ताद्बृहती, २ साम्नीत्रिष्टुप्, ३ आसुरीत्रिष्टुप्** ॥

अतिथियज्ञ से दीर्घजीवन

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्या ∫ णि
प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥ १ ॥
यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जब **अतिथिपतिः**=अतिथि का पालक गृहस्थ **आहार्याणि**=अतिथि के लिए देने योग्य पदार्थों पर **प्रेक्षते**=दृष्टि करता है और प्रार्थना करता है कि **इदं भूयाः**=यह और अधिक है, **इदम् इति**=यह और अधिक हो, ऐसा कहता है जो **एतत्**=इसप्रकार वह गृहस्थ उस विद्वान् अतिथि को **वै**=निश्चय से **यजमानब्राह्मणम्**=यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान **कुरुते**=कर लेता है। २. **यत् आह**=और जब गृहमेधि कहता है कि **भूयः उद्धर इति**=इस आहार योग्य पदार्थ में से कुछ और अधिक लीजिए तो **तेन**=उस प्रार्थना से **प्राणम् एव वर्षीयांसं कुरुते**=अपनी प्राणशक्ति को चिरस्थायी करता है और ३. जब **उपहरति**=अन्नादि पदार्थ उसके समीप लाता है तब **हवींषि आसादयति**=यज्ञ की हवियों को ही लाता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ के रूप में देवयज्ञ करते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**४ साम्न्युष्णिक्, ५ साम्नीबृहती, ६ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

अतिथि ऋत्विज्

तेषामासन्नानामतिथिरात्मञ्जुहोति ॥ ४ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥

१. **तेषाम् आसन्नानाम्**=उन समीप बैठे हुए गृहसदस्यों के समीप बैठा हुआ **अतिथिः**=अतिथि **आत्मन् जुहोति**=जब भोजन को अपनी जाठराग्नि में आहुत करता है तब **स्रुचा हस्तेन**=यज्ञचमस के तुल्य हाथ से **यूपे प्राणे**=यज्ञस्तम्भ के तुल्य प्राण के निमित्त **वषट्कारेण स्रुक्कारेण**=स्वाहा शब्द के समान 'स्रुक्-स्रुक्' इसप्रकार के शब्द के साथ वह जाठराग्नि में अन्नरूप हवि को डालता है। इसप्रकार यह अतिथि का भोजन देवयजन (अग्निहोत्र) ही होता है। ३. **एते यत् अतिथयः**=ये जो अतिथि हैं, वे **प्रियाः च अप्रियाः**=चाहे प्रिय हों, चाहे अप्रिय हों, ये **ऋत्विजः**=ऋत्विज् यजमान को **स्वर्गं लोकं गमयन्ति**=स्वर्गलोक को प्राप्त कराते हैं। जिन घरों में अतिथियज्ञ होता रहता है, वे घर स्वर्ग-से बन जाते हैं।

भावार्थ—अतिथि को प्रेमपूर्वक भोजन कराने से गृहस्थ अपने घरों को स्वर्ग-तुल्य बना लेते हैं। ये अतिथि 'ऋत्विज्' होते हैं। ये यजमान को स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**७ पञ्चपदाविराट्पुरस्ताद्बृहती, ८,९ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सप्रेम आतिथ्य व पाप-विनाश

स य एवं विद्वान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

सर्वो॑ वा एष ज॒ग्धपा॑प्मा॒ यस्यान्न॑म॒श्नन्ति॑॥ ८॥
सर्वो॑ वा एषोऽज॑ग्धपाप्मा॒ यस्यान्न॑ नाश्नन्ति॑॥ ९॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार ब्रह्मज्ञानी है, **सः**=वह **द्विषन् न अश्नीयात्**=किसी के प्रति द्वेष करता हुआ न खाये और **द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्**=द्वेष करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **न मीमांसितस्य**=शंका के पात्र (सन्देहास्पद) पुरुष के अन्न को भी न खाए, **मीमांसमानस्य न**=हमपर शंका करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **एषः सर्वः वै**=ये सब लोग निश्चय से **जग्धपाप्मा**=नष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नम्**=जिसके अन्न को **अश्नन्ति**=अतिथि खाते हैं और ३. **एषः सर्वः वै**=ये सब निश्चय से **अजग्धपाप्मा**=अनष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नं न अश्नन्ति**=जिसका अन्न अतिथि लोग नहीं खाते।

भावार्थ—प्रेमवाले स्थल में ही आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए। जिसके आतिथ्य को विद्वान् अतिथि स्वीकार करते हैं, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः जहाँ विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहता है, वहाँ पापवृत्ति पनप ही नहीं पाती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१० त्रिपदाऽऽर्चीत्रिष्टुप्, ११ भुरिक्साम्नीबृहती, १२ साम्नीत्रिष्टुप्**॥

आतिथ्य प्राजापत्ययज्ञ

स॒र्व॒दा वा एष युक्तग्रा॑वा॒र्द्रप॑वित्रो॒ वित॑ताध्वर॒
आह॑तयज्ञक्रतु॒र्य उ॑प॒हर॑ति॥ १०॥
प्रा॒जा॒प॒त्यो वा ए॒तस्य॑ य॒ज्ञो वित॑तो॒ य उ॑प॒हर॑ति॥ ११॥
प्रजाप॑तेर्वा एष वि॒क्र॒मान॑नुविक्र॒मते॒ य उ॑प॒हर॑ति॥ १२॥

१. **यः उपहरति**=जो अतिथियों के लिए 'पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय व मधुपर्क' आदि प्राप्त कराता है **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **सर्वदा**=सदा ही **युक्तग्रावा**=सोमरस का अभिषव करनेवाले पाषाणों से सोमरस निकालनेवाला होता है, **आर्द्रपवित्रः**=उसका सोमरस सदा 'दशापवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है, **विततध्वरः**=सदा विस्तृत यज्ञवाला होता है और **आहृतयज्ञक्रतुः**=सदा यज्ञकर्म का फल प्राप्त करनेवाला होता है। २. **यः उपहरति**=जो अतिथि के लिए 'अर्घ्य-पाद्य' आदि प्राप्त कराता है, **एतस्य**=इसका **प्राजापत्यः यज्ञः विततः**=प्राजापत्य यज्ञ विस्तृत होता है—प्रजापति (गृहस्थ) के लिए हितकर यज्ञ विस्तृत होता है, अर्थात् इस अतिथियज्ञ से सन्तानों पर सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है। ३. **यः उपहरति**=जो अतिथि-सत्कार के लिए इन उचित पदार्थों को प्राप्त कराता है, **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते**=प्रजापति के महान् कार्यों का अनुकरण करता है।

भावार्थ—आतिथ्य करनेवालों का यज्ञ सदा चलता है। इसके सन्तानों पर इस आतिथ्य का सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है और यह स्वयं प्रभु के महान् कार्यों का अनुसरण करता हुआ उत्तम कार्यों को करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

अतिथियज्ञ में अग्नित्रय का स्थान

योऽति॑थीना॒ स आ॑हव॒नीयो॒ यो वेश्म॑नि॒ स
गार्ह॑पत्यो॒ यस्मि॒न्पच॑न्ति॒ स द॑क्षिणा॒ग्निः॥ १३॥

१. **यः**=जो **अतिथीनाम्**=अतिथियों का शरीर है **सः**=वह **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि के

समान है, **यः वेश्मनि**=जो गृहस्थ के घर में निवास करना है **सः गार्हपत्यः**=वह गार्हपत्य अग्नि के समान है और **यस्मिन्**=जिस अग्नि में गृहमेधी लोग **पचन्ति**=अतिथि के लिए अन्नादि पकाते हैं, **सः दक्षिणाग्निः**=वह दक्षिणाग्नि है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में 'आहवनीय, गार्हपत्य व दक्षिणाग्नि' तीनों ही अग्नियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसप्रकार यह यज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

[षष्ठं सूक्तम् (३) तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री**॥

अतिथि से पूर्व भोजन करने का परिणाम

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ १॥
पय॑श्च॒ वा ए॒ष रस॑ं च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ २॥
ऊ॒र्जां च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ३॥
प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ४॥
की॒र्तिं च॒ वा ए॒ष यश॑श्च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ५॥
श्रिय॑ं च॒ वा ए॒ष स॑ंविद॑ं च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ६॥

१. **यः**=जो **अतिथेः पूर्वः अश्नाति**=अतिथि को खिलाने से पूर्व स्वयं खा लेता है, **एषः वै**=यह निश्चय से **गृहाणाम्**=घरों के **इष्टं च पूर्तं च**=यज्ञ व कूप-तड़ाग आदि निर्माणात्मक पूर्त कर्मों को **अश्नाति**=खा जाता है, विनष्ट कर बैठता है। २. **पयः च वै रसं च**=यह घर के दूध व रस को निश्चय से विनष्ट कर देता है। ३. **ऊर्जां च वै स्फातिं च**=यह बल व प्राणशक्ति को तथा घर की समृद्धि को नष्ट कर बैठता है। ४. यह अतिथि से पहले ही खा लेनेवाला गृहस्थ **प्रजां च पशून् च**=सन्तानों व पशुओं को नष्ट कर बैठता है। ५. **कीर्तिं च यशः च**=यह कीर्ति व यश को नष्ट कर बैठता है और ६. **श्रियं च संविदं च**=श्री (लक्ष्मी) व सौहार्द (सौहार्दभाव) को नष्ट कर देता है।

भावार्थ—अतिथि को खिलाने से पूर्व ही भोजन कर लेनेवाला व्यक्ति घर के 'इष्ट-पूर्त को, दूध व रस को, बल व समृद्धि को, प्रजा और पशुओं को, कीर्ति और यश को तथा श्री और संज्ञान को नष्ट कर बैठता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**७ साम्नीबृहती, ८ पिपीलिकामध्योष्णिक्, ९ त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री**॥

अतिथि का लक्षण

एष वा अति॑थिर्यच्छ्रोत्रि॑यस्तस्मा॒त्पूर्वो॒ नाश्नी॑यात्॥ ७॥
अ॒शि॒ता॒व॒त्यति॑थावश्नीयाद्य॒ज्ञस्य॑ सात्म॒त्वाय॑। य॒ज्ञस्या॑वि॒च्छेदा॑य॒ तद् व्र॒तम्॥ ८॥
ए॒तद्वा उ॒ स्वादी॑यो॒ यद॑धिग॒वं क्षी॒रं वा॑ मां॒सं वा॒ तदे॒व नाश्नी॑यात्॥ ९॥

१. **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **अतिथिः**=अतिथि है, **यत् श्रोत्रियः**=जो वेद का विद्वान् है, **तस्मात् पूर्वः**=उससे पहले **न अश्नीयात्**=भोजन न करे। २. **अतिथौ अशितावति अश्नीयात्**=अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन खाये ताकि **यज्ञस्य सात्मत्वाय**=यज्ञ की संगतता बनी रहे, अर्थात् यज्ञ सम्पूर्णता से सफल हो, **यज्ञस्य अविच्छेदाय**=यज्ञ का विच्छेद (विनाश) न हो, **तत् व्रतम्**=यह व्रत ही लेना चाहिए कि 'अतिथि से पूर्व नहीं खाऊँगा'। ३. **एतत् वै उ**=यह ही निश्चय से **स्वादीयः**=सब पदार्थ बहुत स्वादिष्ट हैं, **यत् अधिगवम्**=जो गौ से प्राप्त होता

है, **क्षीरं वा**=दूध या **मांसं वा**=या अन्य मन को अच्छा लगनेवाला (मानसं अस्मिन् सीदति इति—निरु०) दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोया, खीर आदि पदार्थ है, **तत् एव**=उन पदार्थों को गृहस्थ अतिथि से पूर्व **न अश्नीयात्**=न खाये। अतिथि को खिलाकर ही इन पदार्थों का यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ—श्रोत्रिय अतिथि को दूध, रबड़ी आदि स्वादिष्ट पदार्थों को खिलाकर उसके बाद ही गृहस्थ को यज्ञशेष के रूप में उन पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। यह गृहस्थ का व्रत है। इस व्रत के पालन से ही यज्ञ की पूर्णता व जीवन का कल्याण हुआ करता है।

[षष्ठं सूक्तम् (४) चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७ **प्राजापत्याऽनुष्टुप्**, २, ४, ६, ८ **त्रिपदागायत्री** ॥

क्षीर, सर्पि, मधु, मांस

स य एवं विद्वान्क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
स य एवं विद्वान्मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत्सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **क्षीरम् उपसिच्य**=दूध को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो २. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=उत्तम रीति से सम्पादित **अग्निष्टोमेन इष्ट्वा**=अग्निष्टोम यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है। ३. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **सर्पिः उपसिच्य**=घृत आदि पौष्टिक पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो ४. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=सम्यक् सम्पादित **अतिरात्रेण**='अतिरात्र' नामक यज्ञ से **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथि-सत्कार से प्राप्त कर लेता है। ५. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **मधु उपसिच्य**=मधु आदि मधुर पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, ६. तो **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन सत्त्रसद्येन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'सत्त्रसद्य' से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ के करने से प्राप्त करता है। ७. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **सः**=वह **मांसम् उपसिच्य**=मन को रुचिपूर्ण लगनेवाले घी, मलाई, फल (The fleshy part of a fruit) आदि पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो ८. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'द्वादशाह' यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—अतिथि के लिए 'दूध, घृत, मधु, मांस (मन को अच्छा लगनेवाले पदार्थ) प्राप्त

कराने से क्रमशः अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्रसद्य, द्वादशाह यज्ञों के करने का फल मिलता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**९ भुरिक्प्राजापत्यागायत्री, १० चतुष्पदाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अतिथि-सत्कार से गृहस्थ की उत्तमता

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां
भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **उदकम्**=जल को **उपसिच्य उपहरति**=पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो वह २. **प्रजानां प्रजननाय**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाला होता है, **प्रतिष्ठां गच्छति**=प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, **प्रजानां प्रियः भवति**=अपनी प्रजाओं का प्रिय होता है। **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता हुआ **उदकम् उपसिच्य उपहरति**=जल को पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम अतिथि-सत्कार के महत्त्व को समझते हुए आये हुए अतिथि से जलादि के लिए पूछें। अतिथि के लिए जल प्राप्त कराने से भी हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करके एक सद्गृहस्थ की प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (५) पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २ पुरउष्णिक्, ३ भुरिक्साम्नीबृहती** ॥

भूति, प्रजा, पशु

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम् ॥ २ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **तस्मै**=उसके लिए **उषा**=उषा **हिङ्कृणोति**=आनन्द का सन्देश देती है, **सविता प्रस्तौति**=सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, **बृहस्पतिः**=प्राण **ऊर्जया उद्गायति**=बल के साथ उसके गुणों का गान करता है, **त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति**=त्वष्टा उसे पुष्टि प्रदान करता है, **विश्वे देवा निधनम्**=अन्य सब देव उसे आश्रय प्रदान करते हैं, अतः वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार करनेवाला सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**४ साम्न्यनुष्टुप्, ५ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदानिचृद् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती** ॥

सूर्य के द्वारा अतिथियज्ञ करनेवाले का शंसन

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यन्दिन उद्गायत्पराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

१. अतिथि-सत्कार करनेवाले **तस्मै**=उस यज्ञमय जीवनवाले पुरुष के लिए **उद्यन् सूर्यः हिङ्कृणोति**=उदय होता हुआ सूर्य आनन्द का सन्देश देता है, **संगवः प्रस्तौति**=संगवकाल (सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है) उसकी विशेष प्रशंसा (स्तुति) करता है। २. **माध्यन्दिनः**=मध्याह्न **उद्गायति**=उसके गुणों का गान करता है, **अपराह्णः प्रतिहरति**=अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिए 'प्रतिहार' करता है—उसे पुष्टि देता है। **अस्तंयन् निधनम्**=अस्त को जाता हुआ सूर्य उसे आश्रय देता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार आतिथ्य सत्कार करता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में अतिथि-सत्कार करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता और उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार यह अतिथियज्ञ करनेवाला 'सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं' का आश्रय स्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—६ **साम्न्यनुष्टुप्, ७ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदाविराड् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती**॥

मेघ द्वारा आतिथ्य करनेवाले का शंसन

तस्मा॑ अ॒भ्रो भव॒न्हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॒न्प्र स्तौ॑ति॥ ६॥
वि॒द्योत॑मान॒: प्रति॑ हरति॒ वर्ष॒न्नुद्गा॑यत्युद्गृ॒ह्ण॒न्नि॒धन॑म्।
नि॒धनं॑ भू॒त्या॑: प्र॒जाया॑: पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ७॥

१. **तस्मै**=उस अतिथि-सत्कार करनेवाले के लिए **अभ्रः भवन् हिङ्कृणोति**=उत्पन्न होने-वाला मेघ आनन्द का सन्देश देता है। **स्तनयन् प्रस्तौति**=गर्जना करनेवाला मेघ उसकी प्रशंसा करता है। **विद्योतमानः प्रतिहरति**=विद्युत् से प्रकाशित होनेवाला मेघ उसे पुष्टि देता है, **वर्षन् उद्गायति**=वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है, **उद्गृह्णन्**=जल को ऊपर उठाता हुआ मेघ **निधनम्**=आश्रय देता है। २. **एवम्**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को **यः वेद**=जो समझता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम् भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—मेघ भी अपनी पाँचों स्थितियों में उस आतिथ्य करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता तथा उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार अतिथियज्ञ का कर्त्ता सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—८ **त्रिपदाविराडनुष्टुप्, ९ साम्न्यनुष्टुप्, १० भूरिक्साम्नीबृहती**॥

अतिथियज्ञ, सामगान

अति॑थी॒न्प्रति॑ पश्यति॒ हिङ्कृ॑णोत्य॒भि व॑दति
प्र स्तौ॑त्युद॒कं या॑च॒त्युद्गा॑यति॥ ८॥
उप॑ हरति॒ प्रति॑ हर॒त्युच्छि॑ष्टं नि॒धन॑म्॥ ९॥
नि॒धनं॑ भू॒त्या॑: प्र॒जाया॑: पशू॒नां भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १०॥

१. जब यह अतिथि-सत्कार करनेवाला **अतिथीन् प्रतिपश्यति**=अतिथियों का दर्शन करता है, तब मानो **हिङ्कृणोति**=सामगान का हिंकार करता है, **अभिवदति**=जब अभिवादन करता

है तब मानो **प्रस्तौति**=स्तुति करता है। **उदकं याचति**=अतिथि के लिए उदक माँगता है तो **उद्गायति**=उद्गान करता है। **उपहरति**=जब उसके सामने खाद्य पदार्थ रखता है तब **प्रतिहरति**=प्रतिहार करता है—'प्रतिहर्त्ता' का कार्य करता है, **उच्छिष्टम् निधनम्**=उसके भोजन कर चुकने पर जो शेष भोजन बचता है, वह निधन है—यज्ञ का अन्तिम प्रसाद है। २. **एवम्**=इसप्रकार आतिथ्य के महत्त्व को **यः वेद**=जो जानता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम्**=आश्रय **भवति**=होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ करनेवाला सामगान करता हुआ प्रभु का उपासक बनता है, अतः सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रय होता है।

[षष्ठं सूक्तम् (६) षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१ आसुरीगायत्री, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ४ एकपदाप्राजापत्यागायत्री**॥

'गृहपति—क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोगों' का यज्ञ

यत्क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत्॥ १॥
यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत्॥ २॥
यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते॥ ३॥
तेषां न कश्चनाहोता॥ ४॥

१. **यत्**=जब यह आतिथ्य करनेवाला पुरुष **क्षत्तारम्**=(An attendant, the manager of a treasure) सेवक वा कोठारी को **ह्वयति**=बुलाता है, तब मानो **तत्**=उस समय अध्वर्यु-कर्म में **आश्रावयति एव**=आश्रवण ही कराता है। **यत् प्रतिशृणोति**=जब कोठारी उसकी आज्ञा स्वीकार करता है, तब मानो **तत्**=वह **प्रतिश्रावयति एव**=आध्वर्यवकाण्ड का प्रत्याश्रावण करता है। २. **यत्**=जो **परिवेष्टारः**=रसोई परोसनेवाले लोग **पात्रहस्ताः**=हाथ में भोजन के पात्र लिये हुए **पूर्वे च अपरे च**=आगे और पीछे **अवपद्यन्ते**=आ पहुँचते हैं, **चमसाध्वर्यवः एव ते**=वे मानो चमसा लिये हुए यज्ञ के चमसाध्वर्यु लोग ही हैं, **तेषाम्**=उनमें से **कश्चन**=कोई भी **अहोता न**=आहुति न देनेवाला नहीं होता।

भाषार्थ—अतिथि-सत्कार के समय 'गृहपति, उसका क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोग' भी मानो हवि की आहुति ही दे रहे होते है, अतः अतिथि-सत्कार ही इनका यज्ञ हो जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**५ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ६ आर्चीबृहती**॥

अवृभथ-उदवसान

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति॥ ५॥
यत्सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत्॥ ६॥

१. **यत् वै**=जब निश्चय से **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक—गृहस्थ **अतिथीन् परिविष्य**=अतिथियों को भोजन परोसकर **गृहान् उप उदैति**=पुनः अपने घरों के (गृहस्थ-सम्बन्धियों के) समीप आता है तब मानो **तत्**=वह **अवभृथम् एव उप अवैति**=यज्ञ कर चुकने के पश्चात् अवभृथ स्नान ही कर लेता है। २. **यत् सभागयति**=जो उन्हें कुछ धन भेंट करता है, तो मानो **दक्षिणाः सभागयति**=यज्ञ में ऋत्विजों को दक्षिणा ही देता है और **यत्**=जो **अनुतिष्ठते**=उनकी विदाई के समय समीप स्थित होता है, **तत्**=वह **उद् अवस्यति एव**=यज्ञ का उदवसान करना है।

भावार्थ—अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना यज्ञ के अन्त में अवभृथ-

स्नान के समान है। अतिथि को विदा करके लौटाना यज्ञ के उदवसान पर यज्ञ-स्थान से घर लौटने के समान है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**७ आर्चीबृहती**॥

पृथिवी के विश्वरूप पदार्थों की प्राप्ति

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यत्पृथिव्यां विश्वरूपम्॥ ७॥

१. **सः**=वह—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला गृहस्थ **पृथिव्याम् उपहूतः**=इस पृथिवी पर निमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (इसका सेवन) करता है, **यत् पृथिव्यां विश्वरूपम्**=जो इस पृथिवी पर नाना रूपोंवाले अन्नादि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को पार्थिव पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**८-११ आर्चीबृहती**॥

'अन्तरिक्ष, द्युलोक, देवों व लोकों' में आमन्त्रण

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यदन्तरिक्षे विश्वरूपम्॥ ८॥

स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्दिवि विश्वरूपम्॥ ९॥

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्देवेषु विश्वरूपम्॥ १०॥

स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यल्लोकेषु विश्वरूपम्॥ ११॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में, **दिवि**=द्युलोक में, **देवेषु**=विद्वानों (ब्राह्मणों) में तथा **लोकेषु**=अन्य लोकों में (क्षत्रिय, वैश्यादि में) **उपहूतः**=आमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (सेवन) करता है, **यत् अन्तरिक्षे दिवि देवेषु लोकेषु**=जो अन्तरिक्ष में, द्युलोक में, देवों में व सामान्य लोगों में **विश्वरूपम्**=नाना रूपोंवाले वायु (अन्तरिक्ष), सूर्यप्रकाश (द्युलोक), ज्ञान (देव), बल, धन व अन्न (लोक) आदि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को 'अन्तरिक्षस्थ, द्युलोकस्थ, दैवस्थ व लोकस्थ' किन्हीं भी पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१२ एकपदासुरीजगती, १३ याजुषीत्रिष्टुप्, १४ एकपदासुर्युष्णिक्**॥

यह लोक, वह लोक व ज्योतिर्मय लोक

स उपहूत उपहूतः॥ १२॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्॥ १३॥

ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ १४॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **उपहूतः**=सादर आमन्त्रित होता है और **उपहूत**=अवश्य ही आमन्त्रित होता है। वह **इमं लोकम् आप्नोति**=इस लोक को प्राप्त करता है और **अमुं लोकम् आप्नोति**=उस लोक को भी प्राप्त करता है—इस लोक के अभ्युदय को और परलोक के निःश्रेयस को यह प्राप्त करनेवाला होता है। **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है और उसे साङ्ग सम्पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, वह **ज्योतिष्मतः लोकान् जयति**=प्रकाशमय लोकों को जीतनेवाला होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को साङ्ग पूर्ण करनेवाला व्यक्ति सादर आमन्त्रित होता है। वह अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वह प्रकाशमय लोकों का विजेता होता है।

७ [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**१ आर्चीबृहती, २ आर्च्युष्णिक्, ३ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

प्रजापति से घर्म तक

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥
सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्य ∫ धरहनुः ॥ २ ॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

१. वेदधेनु के विराट् शरीर की यहाँ कल्पना की गई है। इस वेदवाणी में उस प्रभु का वर्णन है जोकि सब देवों के अधिष्ठान हैं—'**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**'। सब देवों को इस गौ के विराट् शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में दिखलाते हैं। **प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे**=प्रजापति और परमेष्ठी दोनों इस गौ के सींग हैं, **इन्द्रः शिरः**=इन्द्र सिर है, **अग्निः ललाटम्**=अग्नि ललाट है, **यमः कृकाटम्**=यम गले की घंटी है। २. **सोमः राजा मस्तिष्कः**=सोम राजा उसका मस्तिष्क है, **द्यौः उत्तरहनुः**=द्युलोक उसका ऊपर का जबड़ा है, **पृथिवी अधरहनुः**=पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है। ३. **विद्युत् जिह्वा**=विद्युत् उसकी जिह्वा है। **मरुतः दन्तः**=मरुत् (वायुएँ) उसके दाँत हैं, **रेवतीः ग्रीवाः**=रेवतीनक्षत्र उसकी गर्दन है, **कृत्तिकाः स्कन्धाः**=कृत्तिका नक्षत्र कन्धे हैं और **घर्मः वहः**=प्रकाशमान् सूर्य व ग्रीष्मऋतु उसके ककुद के पास का स्थान है।

भावार्थ—वेदवाणी में 'प्रजापति परमेष्ठी' के प्रतिपादन के साथ 'इन्द्र, अग्नि, यम, सोम, द्यौ, पृथिवी, विद्युत्, वायु, रेवती व कृत्तिका आदि नक्षत्र व घर्म' का ज्ञान उपलभ्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**४ साम्नीबृहती, ५ आर्च्यनुष्टुप्, ६ आसुरीगायत्री** ॥

वायु से उपसद तक

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥

१. **वायुः विश्वम्**=वायु उसके सब अवयव हैं। **स्वर्गः लोकः**=स्वर्गलोक **कृष्णद्रम्**=आकर्षक गति है (कृष्ण द्रु), **विधरणी**=लोकों को पृथक्-पृथक् स्थापित करनेवाली शक्ति **निवेष्यः**=उसका बैठने का कूल्हा है। २. **श्येनः**=श्येनयाग **क्रोडः**=उसका गोद-भाग है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **पाजस्यम्**=पेट है, **बृहस्पतिः ककुद्**=बृहस्पति उसका ककुद है। **बृहतीः**=ये विशाल दिशाएँ **कीकसाः**=उसके गले के मोहरे हैं। ३. **देवानां पत्नीः**='सूर्या, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नाणी' आदि देवपत्नियाँ **पृष्टयः**=पृष्ठ के मोहरे, **उपसदः**=उपसद इष्टियाँ **पर्शवः**=उसकी पसलियाँ हैं।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रभु के बनाये हुए वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के साथ कर्त्तव्यभूत उपसद आदि इष्टियों का भी प्रतिपादन किया गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**७ त्रिपदापिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री, ८ आसुरीगायत्री, ९, १३ साम्नीगायत्री, १० पुरउष्णिक्, ११, १२ साम्न्युष्णिक्** ॥

मित्र से प्रजा तक

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥
इन्द्राणी भसद्वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः
कुष्ठिका अदितिः शफाः॥ १०॥
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत्॥ ११॥
क्षुत्कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः॥ १२॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः॥ १३॥

१. **मित्रः च वरुणः च**=मित्र और वरुण **अंसौ**=कन्धे हैं, **त्वष्टा च अर्यमा च**=त्वष्टा और अर्यमा **दोषणी**=भुजाओं के ऊपर के भाग हैं, **महादेवः बाहूः**=महादेव बाहु हैं (अगली टाँगों का पिछला भाग), **इन्द्राणी**=विद्युत्-शक्ति **भसत्**=गुह्यभाग है, **वायुः पुच्छम्**=वायु पूँछ है, **पवमानः बालाः**=बहता हुआ वायु उसके बाल हैं। २. **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ब्रह्म और क्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) **श्रोणी**=उसके श्रोणीप्रदेश (कूल्हे) हैं, **बलम्**=बल (सेना) **ऊरू**=जाँघें हैं। **धाता च सविता च**=धाता और सविता उसके **अष्ठीवन्तौ**=टखने हैं, **गन्धर्वाः जंघाः**=गन्धर्व जंघाएँ हैं **अप्सरसः**=रूपवती स्त्रियाँ (अप्सराएँ) **कुष्ठिकाः**=खुरों के ऊपर-पीछे की ओर लगी अंगुलियाँ हैं, **अदितिः**=पृथिवी **शफाः**=खुर हैं। ३. **चेतः**=चेतना **हृदयम्**=हृदय है, **मेधा**=बुद्धि **यकृत्**=जिगर है, **व्रतं पुरीतत्**=व्रत उसकी आँतें है, **क्षुत् कुक्षिः**=भूख कोख है, **इरा**=अन्न व जल **वनिष्ठुः**=गुदा व बड़ी आँतें हैं, **पर्वताः**=पर्वत व मेघ **प्लाशयः**=छोटी आँतें हैं, **क्रोधः**=क्रोध **वृक्कौ**=गुर्दे हैं, **मन्युः**=शोक व दीप्ति **आण्डौ**=अण्डकोश हैं, **प्रजा शेपः**=प्रजाएँ उसका लिंगभाग हैं (वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः। वीर्यवाहिशिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ। गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः—शार्ङ्गधर)।

भावार्थ—वेद में मित्र, वरुण से लेकर क्रोध, मन्यु, प्रजा आदि का सुचारुरूपेण प्रतिपादन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**१४-१६ साम्नीबृहती, १७ साम्न्युष्णिक्, १८ एकपदाऽऽसुरीजगती**॥

नदी से निधन तक

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः॥ १४॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम्॥ १५॥
देवजना गुदा मनुष्या ∫ आन्त्राण्यत्रा उदरम्॥ १६॥
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम्॥ १७॥
अभ्रं पीबो मज्जा निधनम्॥ १८॥

१. **नदी सूत्री**=नदी इस वेदधेनु की सूत्री (जन्म देनेवाली नाड़ी), **वर्षस्य पतयः**=वृष्टि के पालक मेघ **स्तनाः**=स्तन हैं, **स्तनयित्नुः ऊधः**=गर्जनशील मेघ ऊधस् (औड़ी) है। **विश्वव्यचाः**=सर्वव्यापक आकाश **चर्म**=चमड़ा है, **ओषधयः लोमानि**=ओषधियाँ लोम हैं, **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र उसके रूप, अर्थात् देह पर चितकबरे चिह्न हैं। २. **देवजनाः**=देवजन (ज्ञानी लोग) **गुदाः**=गुदा हैं, **मनुष्याः आन्त्राणि**=मननशील मनुष्य उसकी आँतें हैं, **अत्ताः उदरम्**=अन्य खाने-पीनेवाले प्राणी उसके उदर हैं, **रक्षांसि लोहितम्**=राक्षस लोग रुधिर हैं, **इतरजनाः ऊबध्यम्**=इतर जन अनपचे अन्न के समान हैं, **अभ्रम्**=मेघ **पीवः**=मेदस् (चर्बी) हैं, **निधनम्**=निधन **मज्जा**=मज्जा है (निधन=यज्ञ का अन्तिम प्रसाद)।

भावार्थ—वह वेदवाणी 'नदियों व निधन' सबका प्रतिपादन कर रही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**१९ एकपदाऽऽसुरीपङ्क्तिः, २० याजुषीजगती, २१ आसुर्यनुष्टुप्, २२ एकपदाऽऽसुरी जगती, २३ एकपदाऽऽसुरी बृहती**॥

वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रभु'

अग्निरासीन् उत्थितोऽश्विना॥ १९॥
इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा तिष्ठन्यमः॥ २०॥
प्रत्यङ् तिष्ठन्धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता॥ २१॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा॥ २२॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः॥ २३॥

१. वेदवाणी में सभी पदार्थों, जीव के कर्त्तव्यों व आत्मस्वरूप का वर्णन है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु हैं। यह प्रभु हमारे हृदय में **आसीनः**=आसीन हुए-हुए **अग्निः**=अग्नि हैं—हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले हैं (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया), **उत्थितः**=हमारे हृदय में उठे हुए ये प्रभु **अश्विना**=प्राणापान हैं, जब प्रभु की भावना हमारे हृदयों में सर्वोपरि होती है तब हमारी प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है। **प्राङ् तिष्ठन्**=पूर्व में (सामने) ठहरे हुए वे प्रभु **इन्द्रः**=हमारे लिए परमैश्वर्यशाली व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। **दक्षिणा तिष्ठन्**=दक्षिण में स्थित हुए-हुए वे **यमः**=यम हैं, हमारे नियन्ता हैं, **प्रत्यङ् तिष्ठन्**=पश्चिम में ठहरे हुए वे प्रभु **धाता**=हमारा धारण करनेवाले हैं। **उदङ् तिष्ठन्**=उत्तर में ठहरे हुए **सविता**=हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। २. ये ही प्रभु **तृणानि प्राप्तः**=तृणों को प्राप्त हुए-हुए **सोमः राजा**=देदीप्यमान (राज् दीप्तौ) सोम होते हैं। ये तृण भोजन के रूप में उदर में प्राप्त होकर 'सोम' के जनक होते हैं। **ईक्षमाणः**=हमें देखते हुए, ये प्रभु **मित्रः**=हमें प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रायते=मित्रः), **आवृत्तः**=हममें व्याप्त हुए-हुए वे प्रभु **आनन्दः**=हमारे लिए आनन्दरूप हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'अग्नि, अश्विना, इन्द्र, यम, धाता, सविता, सोम' मित्र व आनन्दरूप हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**साम्नीभुरिग्बृहती**॥

वैश्वदेव, प्रजापति, सर्व

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम्॥ २४॥

१. **युज्यमानः**=जब हम अपने मनों को इस प्रभु के साथ जोड़ते हैं, तब वे **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणों को हमारे साथ जोड़ते हैं। **युक्तः**=हमारे साथ युक्त हुए-हुए वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम प्रजाओं का रक्षण करनेवाले हैं। **विमुक्तः**=सब बन्धनों से विमुक्त वे प्रभु **सर्वम्**='सर्व' हैं—सबमें समाये हुए हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हममें दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं, हमारे रक्षक हैं और सबमें समाये हुए हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**२५ साम्न्युष्णिक्, २६ साम्नीत्रिष्टुप्**॥

'विश्वरूप, सर्वरूप' गोरूप

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्॥ २५॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद॥ २६॥

१. **एतत्**=यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णन **वै**=निश्चय से **विश्वरूपम्**=वेदधेनु का सब पदार्थों का (संसार का) निरूपण करनेवाला विराट्रूप है, **सर्वरूपम्**=यह 'सर्व' (सब में समाये) प्रभु का

निरूपण करनेवाला-सा है, **गोरूपम्**=वेदवाणी का गौ के रूप में निरूपण है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है, **एनम्**=इसे **विश्वरूपाः**=भिन्न-भिन्न वर्णों व आकृतियोंवाले, **सर्वरूपाः**='सर्व' प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाले—व्यक्त व अव्यक्त वाक् सब प्राणी—मनुष्य व पशु-पक्षी आदि **उपतिष्ठन्ति**=पूजित करते हैं। यह उन सब प्राणियों से जीवन के लिए आवश्यक लाभ प्राप्त करता हुआ उनमें प्रभु की महिमा देखता है।

भावार्थ—वेदवाणी में विश्व के सब पदार्थों का निरूपण है। इसमें 'सर्व' (सबमें समाये हुए) प्रभु का भी निरूपण है। वेदधेनु के इस विराट्रूप को देखनेवाला व्यक्ति सब प्राणियों से उचित लाभ प्राप्त करता है, सब प्राणियों में उस 'सर्व' प्रभु की महिमा को देखता है।

विशेष—इसप्रकार वेदधेनु को अपनानेवाला यह व्यक्ति ज्ञानरूप अग्नि में परिपक्व होकर 'भृगु' बनता है, अङ्ग-अङ्ग में रसवाला (नीरोग) यह व्यक्ति 'अङ्गिरस' होता है। यह भृग्वङ्गिरा ही अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिरोरोग निराकरण

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ १॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ २॥
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ३॥
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ४॥
अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ५॥

१. **शीर्षक्तिम्**=शिरःपीड़ा को **शीर्षामयम्**=सिर के अन्य रोग को (मस्तकशूल व शिरोव्यथा को) **कर्णशूलम्**=कान के दर्द व **विलोहितम्**=जिसमें रुधिर की कमी आ जाती है तथा विकृत रुधिरवाले **ते**=तेरे **सर्वम्**=सब प्रकार के **शीर्षण्यं रोगम्**=सिर में होनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर आमन्त्रित करते हैं—दूर करते हैं। **कर्णाभ्याम्**=कानों से तथा **ते कङ्कूषेभ्यः**=तेरे कानों के अन्दर व्याप्त नाड़ियों से **विसल्पकम्**=नाना प्रकार से रेंगनेवाली—चीस चलानेवाली **कर्णशूलम्**=कान की पीड़ा को बाहर करते है। **यस्य हेतोः**=जिस कारण से **कर्णतः**=कान से और **आस्यतः**=मुख से **यक्ष्मः**=रोगकारी, पीड़ाजनक मवाद **प्रच्यवते**=बहता है, उस समस्त शिरोरोग को हम दूर करते हैं। २. **यः**=जो रोग **प्रमोतं कृणोति**=बहरा कर देता है और **पूरुषम् अन्धं करोति**=पुरुष को अन्धा कर देता है, उस सब रोग को दूर करते हैं। **अङ्गभेदम्**=शरीर के अङ्गों को तोड़ डालनेवाले, **अङ्गज्वरम्**=शरीर के अङ्गों में ज्वर उत्पन्न करनेवाले, **विश्वाङ्ग्यम्**=सब अङ्गों में व्यापनेवाले **विसल्पकम्**=विशेषरूप से तीव्र वेदना के साथ फैलनेवाले **सर्वं शीर्षण्यम्**=सब शिरोरोग को हम तुझसे दूर करते हैं।

भावार्थ—सब शिरोरोगों को दूर करके हम स्वस्थ मस्तिष्क बन जाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्वरादि को दूर करना

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥
य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥
यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ८ ॥
हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्। यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

१. **यस्य**=जिसका **भीमः**=भयानक **प्रतीकाशः**=स्वरूप ही **पूरुषम् उद्वेपयति**=पुरुष को कम्पित कर देता है, ऐसे **तक्मानम्**=दुःखदायी ज्वर को **विश्वशारदम्**=(शार दौर्बल्ये) सब अङ्गों को निर्बल करनेवाले ज्वर को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निमन्त्रित करते हैं। **यः**=जो रोग **ऊरू अनुसर्पति**=जंघाओं की ओर बढ़ता है, **अथो**=और **गवीनिके एति**=मूत्राशय के समीप 'गवीनिका' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है, उस **यक्ष्मम्**=रोग को **ते अन्तः अङ्गेभ्यः**=तेरे अन्दर के अङ्गों से बाहर आमन्त्रित करते हैं। २. **यदि**=यदि **बलासम्**=(बल अस् क्षेपणे) शरीर के बल का नाशक कफ़ रोग **कामात्**=हमारे इच्छाकृत कर्मों से **अकामात्**=बिना कामना के बाह्य जलवायु के विकार से **हृदयात् परि**=हृदय के समीप **जायते**=उत्पन्न हो जाए तो उसे **हृदः अङ्गेभ्यः**=हृदय के साथ सम्बद्ध अङ्गों से बाहर निकालते हैं। **ते अङ्गेभ्यः**=तेरे अङ्गों से **हरिमाणम्**=पीलिया रोग को, **उदरात् अन्तः**=पेट के भीतर होनेवाले **अप्वाम्**=उदर रोग को **आत्मनः अन्तः**=शरीर के भीतर से **यक्ष्मोधाम्**=यक्ष्मा रोग के अंशों को रखनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निकाल दें।

भावार्थ—शरीर के अन्दर उत्पन्न हो जानेवाले 'ज्वर, यक्ष्मा, पीलिया, जलोदर व यक्ष्मोधा' आदि रोगों को दूर करके हम नीरोगता के सुख का अनुभव करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**१०, ११ अनुष्टुप्, १२ अनुष्टुबगर्भा ककुम्मतीचतुष्पदोष्णिक्** ॥

सर्वाङ्ग नीरोगता

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १० ॥
बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ ११ ॥
उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १२ ॥

१. **बलासः**=शरीर के बल का नाशक कफ़-रोग **आसः**=बाहर फेंका हुआ **भवतु**=हो—थूक के रूप में बाहर फेंक दिया जाए। **आमयत्**=रोगकारी पदार्थ **मूत्रं भवतु**=मूत्ररूप होकर बाहर आ जाए। **सर्वेषाम्**=सब **यक्ष्माणाम्**=रोगों के **विषम्**=विष को **अहम्**=मैं **त्वत्**=तेरे शरीर से **निर् अवोचम्**=बाहर निकालकर बताऊँ, अर्थात् तुझे नीरोग कर दूँ। २. **तव उदरात्**=तेरे उदर से **काहाबाहम्**=खाँसी आदि को लानेवाला **बिलम्**=फूटन रोग (कास आवह) अङ्गों को कड़-कड़ानेवाला रोग **बहिः निर्द्रवतु**=बाहर निकल जाए। **ते उदरात्**=तेरे उदर से **क्लोम्नः**=कलेजे से, **नाभ्याः**=नाभि से और **हृदयात् अधि**=हृदय से भी सब रोगों के विष को मैं तेरे शरीर से बाहर कर दूँ।

भावार्थ—कफ़-रोग थूक के रूप में, अन्य रोगकारी पदार्थ मूत्र के रूप में शरीर से पृथक् हो जाएँ। खाँसी करनेवाला फूटन रोग भी शरीर से पृथक् हो जाए। हमारा उदर, क्लोम, नाभि व हृदय सब स्वस्थ हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**१३, १४, १६-१८ अनुष्टुप्, १५ विराडनुष्टुप्**॥

बहिः बिलम् (निर्द्रवन्तु)

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १३॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १४॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १५॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १६॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १७॥
या मज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १८॥

१. **याः**=जो पीड़ाजनक रोग-मात्राएँ **मूर्धानं प्रति अर्षणीः**=मस्तक की ओर गतिवाली होती हैं और **सीमानं विरुजन्ति**=सिर के ऊपरी भाग (खोपड़ी) को नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं, वे सब **अनामयाः**=रोगशून्य होकर **अहिंसन्तीः**=हमें हिंसित न करती हुई **बिलं बहिः**=शरीर के छिद्रों से बाहर **निर्द्रवन्तु**=निकल जाएँ। **याः**=जो रोग-मात्राएँ **हृदयम् उपर्षन्ति**=हृदय की ओर तीव्र वेग से बढ़ी चली आती हैं और **कीकसाः अनुतन्वन्ति**=हँसली की हड्डियों में फैल जाती हैं **याः पार्श्वे उपर्षन्ति**=जो पीड़ाएँ दोनों पार्श्वों (कोखों) में तीव्र वेदना करती हुई प्राप्त होती हैं और **पृष्टीः अनुनिक्षन्ति**=पीठ के मोहरों का चुम्बन करने लगती हैं, वे सब रोगरहित व अहिंसक होती हुई शरीर-छिद्रों से बाहर निकल जाएँ। २. **याः अर्पणीः**=जो महापीड़ाएँ **तिरश्चीः**=तिरछी होकर आक्रमण करती हुई **ते वक्षणासु उपर्षन्ति**=तेरी पसलियों में पहुँच जाती हैं, **याः**=जो पीड़ाएँ **गुदाः अनुसर्पन्ति**=गुदा की नाड़ियों में गतिवाली होती हैं **च**=और **आन्त्राणि मोहयन्ति**=आँतों को मूर्च्छित (काम न करनेवाला) कर देती हैं, **याः**=जो **मज्ञाः**=मज्जाओं को **निर्धयन्ति**=चूस-सा लेती हैं और सुखा-सा डालती हैं, **च**=और **परूंषि विरुजन्ति**=जोड़ों में दर्द (फूटन) पैदा कर देती हैं, वे सब रोगशून्य व अहिंसक होकर शरीर-छिद्रों से बाहर चली जाएँ।

भावार्थ—जो भी पीड़ादायक तत्त्व शरीर में विकृतियों का कारण बनते हैं, वे पसीने आदि के रूप में शरीर से बाहर हो जाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यक्ष्माविष-निराकरण

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १९॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ २०॥

१. **ये**=जो **यक्ष्मासः**=रोगजनक पदार्थ **ते अङ्गानि मदयन्ति**=तेरे अङ्गों को मदयुक्त करते हैं—कम्पित-सा करते हैं और **तव रोपणाः**=तेरी व्याकुलता व मूर्च्छा का कारण बनते हैं, **अहम्**=मैं **सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्**=उन सब रोगों के विष को **त्वत् निरवोचम्**=तेरे शरीर से बाहर निकालकर बताता हूँ। २. **विसल्पस्य**=नाना प्रकार के फैलनेवाले पीड़ाकारी रोग (dry spreading itch) **विद्रधस्य**=गिल्टियों की सूजन, **वातीकारस्य**=बाय की पीड़ा **वा अलजेः**=और

आँख के भीतर दाने या रोहे फूलना आदि सब रोगों के विष को मैं तुझसे पृथक् किये देता हूँ।

भावार्थ—पीड़ाजनक व कम्पित करनेवाले विसल्प आदि सब रोगों के विष को शरीर से पृथक् करके हम स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥

नीरोग अङ्ग

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम्॥ २१॥

१. **ते पादाभ्याम्**=तेरे चरणों से, **जानुभ्याम्**=गोड़ों से **श्रोणिभ्याम्**=कूल्हों से **परिभंससः**=जघन-भाग से, **अनूकात्**=रीढ़ से **उष्णिहाभ्यः**=गर्दन की नाड़ियों से **अर्षणीः**=तीव्र वेदनाओं को तथा **शीर्षणः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशम्**=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—हम पैर, श्रोणि, भंसस्, अनूक व उष्णिहा' जन्य पीड़ाओं को तथा सिर के रोग को दूर कर स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

'सिर व हृदय की पीड़ा' की चिकित्सा सूर्यरश्मियाँ

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः॥ २२॥

१. हे रोगिन्! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः कपालानि**=सिर के कपाल-भाग **च**=और **हृदयस्य यः विधुः**=जो हृदय की विशेष प्रकार की पीड़ा थी, उस सबको **सम्**=(अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है। हे **आदित्य**=(आदानात्, दाप लवणे) सब रोगों को उखाड़ फेंकनेवाले सूर्य! **उद्यन्**=उदय होता हुआ तू **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **शीर्ष्णः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशः**=नष्ट कर देता है तथा **अङ्गभेदम्**=अङ्गों की वेदना को तूने **अशीशमः**=शान्त कर दिया है।

भावार्थ—उदय होते हुए सूर्य की किरणें शिरोरोग व हृत्-पीड़ाओं को शान्त कर देती हैं। इसी से सूर्याभिमुख होकर ध्यान करने का महत्त्व है।

विशेष—नीरोग बनकर प्रभु-स्तवन करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और उस सुन्दर-ही-सुन्दर 'वाम' प्रभु का स्मरण करता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वाम-अश्न-घृतपृष्ठ=प्रभु-जीव-प्रकृति

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १॥

१. **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर-ही-सुन्दर, सब मलिनताओं से रहित, **पलितस्य**=सब जीवों का पालन करनेवाले, **होतुः**=सब आवश्यक पदार्थों के प्रदाता **तस्य**=उस प्रभु का **भ्राता**=भ्राता **मध्यमः**=मध्य में रहनेवाला जीव है जोकि **अश्नः**=खानेवाला है। जीव के एक ओर प्रकृति है, दूसरी ओर प्रभु। इन दोनों के मध्य में है जीव। यह न तो प्रभु के समान पूर्ण चेतन है और न ही प्रकृति के समान एकदम जड़। प्रभु पूर्ण तृप्त होने से नहीं खाते, प्रकृति जड़ होने से भूख

का अनुभव नहीं करती। जीव ही खाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु का **तृतीयः भ्राता**=तीसरा भाई यह प्रकृति है जोकि **घृतपृष्ठः**=चमकते हुए पृष्ठवाली है। इसकी यह चमक ही जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मैं **अत्र**=यहाँ—प्रकृति में भोगासक्त न होकर **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक **सप्तपुत्रम्**=सात लोकों के रूप में सात पुत्रों को जन्म देनेवाले प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। 'भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामक सात लोक ही प्रभु के सात पुत्र हैं।

भावार्थ—प्रभु सुन्दर, पालक व दाता हैं, जीव प्रकृति व प्रभु के मध्य में स्थित हुआ-हुआ सब भोगों को भोगता है, प्रकृति से बना हुआ संसार सोने की भाँति चमकीला है। यहाँ हमें प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सब लोकों का अधिष्ठानभूत 'रथ' (शरीर)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

१. यह शरीर रथ है। **रथम्**=इस शरीररूप रथ में **सप्त युञ्जन्ति**='**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख-(जिह्वा)-रूप सात दीपक जुड़े हुए हैं। यह शरीर-रथ 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' आठ चक्रोंवाला होता हुआ भी **एकचक्रम्**=अद्वितीय चक्रोंवाला है (एक=अद्वितीय)। इसके सब चक्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे नीचे मूलाधारचक्र है। इसमे संयम होने पर वीर्यरक्षण होकर मनुष्य अद्भुत शक्ति का अनुभव करता है। सबसे ऊपर 'सूर्यचक्र' है। वहाँ संयम होने पर 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' सारे भवनों का ज्ञान हो जाता है। **एकः अश्वः**=मुख्य प्राणरूप अश्व इस रथ को **वहति**=ले-चलता है, जो अश्व कि **सप्तनामा**=सात नामोंवाला है। '**प्राणाः वाव इन्द्रियाणि**'—ये सब इन्द्रियाँ प्राण ही हैं। '**आँख, नाक, कान, मुख**' ये सब प्राण के ही नाम हैं। २. वह **चक्रम्**=शरीर-चक्र **त्रिनाभिः**=तीन नाभियों-(बन्धनों)-वाला है (णह बन्धने)। ये तीन नाभियाँ '**इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि**' हैं। **अजरम्**=यह चक्र अतिशयेन गतिशील है। यहाँ 'इन्द्रियाँ, मन व वासनात्मक बुद्धि' सभी अस्थिर हैं। ये **अनर्वम्**='इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' हिंसित होनेवाले नहीं। अगले शरीरों में भी ये ही हमारे साथ रहेंगे। यह शरीररूप रथ वह है **यत्र**=जहाँ **इमा विश्वा भुवना**=ये सभी लोक **अधितस्थुः**=ठहरे हुए हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष तथा पाँव पृथिवीलोक है। '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते**' यह शरीर ब्रह्माण्ड के सभी देवों का अधिष्ठान है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ अद्भुत है। यह सब लोकों का अधिष्ठान है। सब देव इसमें उपस्थित हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सप्तचक्र' रथ का वर्णन

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ ३॥

१. **इमं रथम् अधि**=इस शरीररूप रथ पर **ये**=जो **सप्त**=सात (सप् sip) ज्ञान-जल का आचमन करनेवाले सात ऋषि (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) **तस्थुः**=स्थित हैं। ये **सप्त अश्वाः**=सात ऋषि—इन्द्रिय-अश्व **सप्तचक्रम्**=(सप् to know, to worship) श्रद्धारूपी चक्रोंवाले इस रथ को **वहन्ति**=धारण करते हैं, जीवन-मार्ग में आगे और आगे ले-चलते हैं। २. इस शरीर में **सप्त**=(सप् to obtain) सब शक्तियों को प्राप्त करानेवाले (सप् to do, to

perform) या सब कार्यों को करनेवाले **स्वसारः**=(स्वयं सरणाः) अपने आप निरन्तर चलते रहनेवाले—हम सो जाते हैं तो भी ये चलते ही हैं (स्वः आदित्यः तेन सारिताः), अथवा सूर्य से प्रेरित होनेवाले (प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः) ये प्राण इस शरीर को **अभिसंनवन्त**=(सम्यक् नवीकुर्वन्ति) प्रतिदिन इस शरीर-रथ को नया और नया (तरोताज़ा) कर देते हैं। यह शरीर-रथ वह है, **यत्र**=जिसमें **गवां सप्त नामा निहिता**=(गो Diamond) 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि व वीर्यरूप सात नामोंवाले रत्नों का स्थापन हुआ है। ये रस आदि ही शरीर को रमणीय बनाते हैं।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में सात ऋषियों की स्थिति है। आदरणीय (सात) चक्रोंवाले इस शरीर-रथ को सात इन्द्रियाश्व धारण करते हैं। सात प्राण इसे सदा नया बनाये रखते हैं। इसमें सात धातुओं का स्थापन हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

को ददर्श प्रथम जायमानम्

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व ∫ स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥ ४॥

१. **कः**=(कामनः, क्रमणः, सुखी वा—निरु०) जो कामना करता है, क्रमण (पुरुषार्थ) करता है और परिणामतः सुखी होता है, वह विरल पुरुष ही **प्रथमं जायमानम्**=पहले से ही प्रादुर्भूत हुए-हुए (अजायमानो बहुधा विजायते) इस आत्मतत्त्व को **ददर्श**=देखता है। यह कितने आश्चर्य की बात है **यत्**=कि **अनस्था**=स्वयं अस्थिरहित होता हुआ यह **अस्थन्वन्तं बिभर्ति**=अस्थियों के पञ्जरवाले इस शरीर को धारण करता है। २. **भूम्याः**=इस पार्थिव शरीररूप रथ का **असुः**=यह प्राण **असृक्**=रुधिर और **आत्मा**=रथी **क्वस्वित्**=भला कहाँ-कहाँ रहते हैं, इसप्रकार का प्रश्न उत्पन्न होते ही **कः**=वह ज्ञान की कामनावाला पुरुष **एतत् प्रष्टुम्**=इस बात को पूछने के लिए **विद्वांसम् उपगात्**=ज्ञानी पुरुष के समीप उपस्थित होता है।

भावार्थ—कोई विरल व्यक्ति ही आत्मतत्त्व का द्रष्टा बनता है। शरीर में प्राण, रुधिर व आत्मा की स्थिति को समझने के लिए यह ज्ञानी के पास उपस्थित होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श उपदेष्टा

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदाऽपुः॥ ५॥

१. **यः**=जो **ईम्**=अब **अस्य वामस्य**=इस सुन्दर **वेः**=(goer) क्रियाशील प्रभु के (द्वा सुपर्णा) **निहितं पदम्**=रक्खे हुए पग को **अङ्ग**=(well, indeed) ठीक-ठीक **वेद**=जानता है, वह **इह ब्रवीतु**=इस मानव-जीवन में उपदेश दे। यह ज्ञानी प्रभु के (त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः) तीनों पगों को इसप्रकार स्पष्ट करता है कि प्रथम पग में सर्वत्र व्याप्त (विष् व्याप्तौ) प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं, द्वितीय पग में वे 'गोपाः' रक्षक हैं, तृतीय पग में अदाभ्यः—अहिंसित होते हुए वे प्रभु प्रलय करनेवाले हैं। २. **अस्य**=इस ज्ञानी पुरुष की **शीर्ष्णः गावः**=सिर की (शिरोभाग में स्थित) ज्ञानेन्द्रियाँ जनता के मानस में **क्षीरं दुह्रते**=ज्ञान-दुग्ध का पूरण करती हैं। इसका ज्ञान जनता के मन व मस्तिष्क के लिए दूध की भाँति पौष्टिक व मधुर भोजन का काम करता है। ३. ये प्रवचनकर्ता **वव्रिं वसानाः**=रूप को—तेजस्विता को धारण करने के हेतु से **पदा**=(पद गतौ) क्रियाशीलता के द्वारा **उदकम्**=(आपः रेतो भूत्वा) वीर्यशक्ति

को **अपुः**=पीते हैं। प्रवचनकर्ता तेजस्वी हो तो वह जनता पर छा-सा जाता है, अतः वीर्यरक्षण आवश्यक ही है। इस वीर्यरक्षण से विचार-शुद्धि भी बनी रहती है। वीर्यरक्षण के लिए यह क्रियाशील बना रहता है (पदा)। अकर्मण्यता ही वासनाओं को पैदा करके वीर्यनाश का कारण बनती है।

भावार्थ—उपदेष्टा को चाहिए कि वह १. प्रभु के निहित तीनों चरणों को जानता हो, सृष्टि की उत्पत्ति, धारण व प्रलय को समझता हो, २. उसकी इन्द्रियाँ क्षीर-तुल्य मधुर शब्दों में उत्तम ज्ञान का दोहन करती हों, ३. वीर्यरक्षण द्वारा उसने तेजस्विता व मधुरता का सम्पादन किया हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जिज्ञासु का प्रश्न

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ६॥

१. जिज्ञासु कहता है कि—**पाकः**=पक्तव्य प्रज्ञावाला, **अविजानन्**=विशेषरूप से न जानता हुआ मैं **देवानाम्**=सूर्य-चन्द्र आदि देवों के **एना**=इन **निहिता पदानि**=रक्खे हुए पदों को **मनसा**=मन से **पृच्छामि**=आपसे पूछता हूँ। सूर्य-चन्द्र आदि देव शरीर में कहाँ-कहाँ रहते हैं—यह जानने के लिए मैं हृदय से उत्सुक हूँ, अतः आपसे पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। २. **वत्से**=सदा स्पष्टरूप से बोलनेवाले **बष्कये अधि**=(वट् सत्यम् कष् शासने) सत्य का शासन (अनुशासन, उपदेश) करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना में स्थित हुए-हुए **कवयः**=ज्ञानी लोग **सप्त तन्तून् वितत्निरे**=जिसमें ज्ञान का विस्तार किया गया है (तन्) उन सात गायत्री आदि छन्दों के ज्ञानरूप ताने को तानते हैं। तानते इसलिए हैं कि **ओतवै उ**=उसमें कर्म का बाना बुना ही जाए, अर्थात् ये ज्ञान के ताने में कर्म का बाना बुनते हैं—ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से अनुशासन प्राप्त करनेवाले क्रियाशील विद्वानों से मैं अपनी आत्मविषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पूछता हूँ कि इस देह में किस-किस देवता ने कहाँ-कहाँ स्थिति की है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

छह लोक और सातवाँ लोक

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्वनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ७॥

१. **अचिकित्वान्**=अविद्वान् होता हुआ-इस शरीर व शरीरी के रूप को ठीक-ठीक न समझता हुआ **चित्**=ही **अत्र**=इस मानव-जीवन में **चिकितुषः कवीन् विद्वनः**=ज्ञानी, क्रान्तदर्शी विद्वानों से **पृच्छामि**=पूछता हूँ। **न विद्वान्**=न जानता हुआ मैं ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। २. उस प्रभु के विषय में पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ **यः**=जोकि **इमा**=इन **षट्**=छह **रजांसि**=लोकों को **वि**=अलग-अलग, अपने-अपने स्थान में **तस्तम्भ**=थामे हुए हैं। इस प्रभु के आधार में इतनी तीव्र गति से क्रमण करते हुए भी ये लोक परस्पर टकराते नहीं। मैंने ऐसा सुना है कि सातवाँ लोक तो **अजस्य रूपे**=उस कभी न उत्पन्न होनेवाले प्रभु के स्वरूप में ही विद्यमान है। **एकं किम् अपि स्वित्**=यह लोक तो कुछ अद्वितीय-(एकम्)-सा ही है। इन लोकों की भाँति न होकर वह प्रभु का 'सत्य' स्वरूप ही है।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर प्रभु के आश्रय में स्थित छह लोकों का ज्ञान

प्राप्त करके उस अद्वितीय सातवें प्रभुरूप लोक को भी जानने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श शिष्य

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥

१. **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाला विद्यार्थी **पितरम्**=ज्ञानप्रद पितृरूप आचार्य को **ऋते**=सत्यज्ञान की प्राप्ति के निमित्त **आ बभाज**=सर्वथा सेवित करता है। आचार्य के प्रति श्रद्धा व भक्ति के अभाव में यह आचार्य से क्या ज्ञान प्राप्त करेगा? सत्यज्ञान की प्राप्ति की लालसा से यह आचार्य के पास आता है और **धीत्यग्रे**=(धीतिः अग्रे यस्मिन् तेन) ध्यान व कर्म है प्रमुख जिसमें उस **मनसा**=मन से यह **हि**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=ज्ञान से संगत होता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी श्रमशील हो (student=studious) तथा आचार्य के मुख से निकलते हुए एक-एक शब्द को ध्यान से सुने। उसकी प्रार्थना यही हो कि **'सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि'**। २. ऐसा विद्यार्थी आचार्य का प्रिय होता है। आचार्य इसे उपनीत करता हुआ मानो अपने गर्भ में ही धारण करता है। यह आचार्य की सन्ततिरूप हुआ-हुआ **बीभत्सुः**=आचार्य के साथ अपने को बाँध देने की इच्छावाला होता है। **गर्भरसा**=गर्भरस से—रहस्यमय ज्ञान के जल से **निविद्धा**=हृदय के अन्तस्तल तक सिक्त होता है। आचार्य के गर्भ में रहता हुआ यह गर्भस्थ बालक के समान गर्भरस से पोषित होता है। गर्भरस शुद्ध साररूप है। यह विद्यार्थी भी आचार्य के शुद्ध साररूप ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है और सबसे प्रमुख बात यह है कि **नमस्वन्तः इत्**=नमस्वाले, अर्थात् नम्रता से युक्त विद्यार्थी ही आचार्य के समीप पहुँचकर **वाकम्**=उपदेश को—वेदवाणी को **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। नम्र शिष्य ही आचार्य से ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

भावार्थ—शिष्य में १. जीवन के निर्माण की भावना होनी चाहिए (माता)। २. उसका एकमात्र उद्देश्य सत्यज्ञान की प्राप्ति हो (ऋते)। ३. वह श्रम व ध्यान-प्रधान मनवाला हो (धीत्यग्रे)। ४. आचार्य के सदा समीप हो (बीभत्सुः)। ५. नम्रता की भावना से ओत-प्रोत हो (नमस्वन्तः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दक्षिणायाः धुरि

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

१. **माता**=जीवन के निर्माण की इच्छावाला शिष्य **दक्षिणायाः धुरि**=दक्षिणा के जुए में (दक्षिणे सरलोदारौ) सरलता व उदारता के अग्रभाग में **युक्ता आसीत्**=आचार्य द्वारा जोड़ा जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को सरल व उदार वृत्ति का बनाता है। सरलता के अभाव में पारस्परिक प्रेम का विकास नहीं और उदारता के अभाव में पवित्रता नहीं, विशालता ही तो हृदय को पवित्र बनाती है। यह विद्यार्थी **वृजनीषु**=(Battles, Struggles) जब तक काम-क्रोधरूप वासनाओं से उसका संघर्ष चलता है, तब तक **अन्तः गर्भः अतिष्ठत्**=अन्तर्गर्भ के समान रहता है—आचार्य-गर्भ में तब तक ठहरता है, जब तक कि वह परिपक्व न हो जाए। २. आचार्यकुल में रहता हुआ यह आचार्य का प्रिय **वत्सः**=पुत्र-तुल्य शिष्य **अनु अमीमेत्**=आचार्य के पीछे-ठीक आचार्य के उच्चारण के अनुसार शब्द करता है। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ यह

विद्यार्थी **गाम्**=वेदवाणी को **अपश्यत्**=देखता है। इस वेदवाणी का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। यह उस वेदवाणी को देखता है जो **विश्वरूप्यम्**=सब विषयों का निरूपण करनेवाली है। यह विद्यार्थी इस वेदवाणी को **त्रिषु योजनेषु**=तीनों योजनाओं में देखता है—इसके प्रकृति, जीव व परमात्म-सम्बद्ध तीनों अर्थों को देखने का प्रयत्न करता है। ऋग्वेद मुख्यरूप से प्रकृति का वर्णन करता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है। यजुर्वेद जीव के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करता हुआ 'कर्मवेद' है और अध्यात्मज्ञान देता हुआ सामवेद 'उपासना वेद' है। अथर्व मनुष्य को रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर उन्नत राष्ट्र में सुन्दर जीवनवाला बनकर प्रभु-प्राप्ति का उपदेश करता है, एवं विश्व का निरूपण करनेवाले ये वेद विद्यार्थी को 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के विषय में ज्ञान प्राप्त कराते हुए 'नीरोग, निर्द्वेष व पूर्णपवित्र (सत्य)' बनाते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'सरल व उदार' वृत्तिवाला बनाए। विद्यार्थी परिपक्व होने से पूर्व आचार्य कुल में ही निवास करे। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ शिष्य अपने ज्ञान को परिपक्व करे। इस वेदवाणी के 'अध्यात्म, अधिभूत व अधिदेव' तीनों क्षेत्रों में होनेवाले अर्थों को देखे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन माता, तीन पिता

तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम्॥ १०॥

१. जीवन के निर्माण की भावना से आर्चाकुल में रहते हुए '**वसु, रुद्र व आदित्य**' ब्रह्मचारी तीन माताओं के रूप में स्मरण किये गये हैं। ऋचाओं के द्वारा विज्ञान का उपदेश देनेवाले आचार्य 'अग्नि' हैं, यजुर्मन्त्रों द्वारा 'कर्म' का उपदेश देनेवाले आचार्य 'वायु' हैं, साम-मन्त्रों द्वारा प्रभु से सम्बन्ध का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य 'सूर्य' हैं। ये आचार्य ही यहाँ तीन पिता कहे गये हैं। इन सबको धारण करनेवाला वह प्रभु ही है। **तिस्रः मातॄः**=तीन माताओं को और **त्रीन् पितॄन्**=तीन पितरों को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **ऊर्ध्वः तस्थौ**=सृष्टि की समाप्ति पर भी अपने चैतन्यरूप में स्थित होता है। ये प्रभु ही अगली सृष्टि के आरम्भ में पुनः वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। प्रभु अग्नि आदि ऋषियों को ज्ञान देते हैं। वे अगले शिष्यों को ज्ञान देते हैं। इसप्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से चलनेवाला यह ज्ञान नष्ट नहीं होता। आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए शिष्य **ईम्**=निश्चय से **न-अवग्लापयन्त**=ग्लानि को प्राप्त नहीं होते—ये कभी ऊबते नहीं। आचार्य इन्हें रमण कराते हुए बड़े प्रिय ढंग से ज्ञान प्राप्त कराते हैं '**वसोष्पते निरमय, मय्येवास्तु मयि श्रुतम्**'। २. वे आचार्य व शिष्य **अमुष्य दिवः पृष्ठे**=उस उत्कृष्ट ज्ञान के स्तर पर स्थित हुए-हुए **विश्वविदः**=विश्व का ज्ञान प्राप्त करानेवाले **वाचं मन्त्रयन्ते**=इस वेदवाणी का परस्पर विचार करते हैं। ये उस वेदवाणी का विचार करते हैं जो **अविश्वविन्नाम्**=सब व्यक्तियों से प्राप्त नहीं की जाती। सामान्य मनुष्य प्रकृति के भोगों के पीछे जाकर उस वेदवाणी को पढ़ने का यत्न नहीं करता। विरल व्यक्ति ही इसे अपनाते हैं।

भावार्थ—'वसु, रुद्र व आदित्य' ब्रह्मचारी जीवन का निर्माण करनेवाले होने से तीन माताओं के समान हैं। 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान देनेवाले 'अग्नि, वायु व आदित्य' आचार्य तीन पितर हैं। इन सबका धारण करनेवाला अद्वितीय प्रभु है। आचार्यकुल में आचार्य शिष्यों को यह वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान की ओर सभी का झुकाव नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

भूगोल (The globe of our earth)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥ ११॥

१. यह पृथिवीचक्र पाँच अरोंवाला है। इस भूमण्डल का पहला भाग भूमध्यरेखा के दोनों और २३×$\frac{1}{2}$ डिग्री तक 'उष्ण-कटिबन्ध' कहलाता है। २३×$\frac{1}{2}$ डिग्री से ६६ ×$\frac{1}{2}$ डिग्री तक उत्तर तथा दक्षिण में दो 'समशीतोष्ण-कटिबन्ध' कहलाते हैं तथा ६६×$\frac{1}{2}$ डिग्री से ९० डिग्री तक दोनों ओर 'हिम-कटिबन्ध' हैं। इस **परिवर्त्तमाने**=अपनी कीली पर निरन्तर परिवृत्त होते हुए **पञ्चारे चक्रे**=पाँच अरोंवाले इस पृथिवीचक्र में **यस्मिन्**=जिसमें **विश्वा भुवनानि आतस्थुः**=सभी प्राणी स्थित हैं। **तस्य**=उस पृथिवीचक्र का **भूरिभारः**=पृथिवी के अनन्त-से बोझवाला **अक्षः**=अक्ष (axle) **न तप्यते**=सन्तप्त नहीं होता। 'कितना दृढ़ यह अक्ष है' यह सोचकर ही मनुष्य का सिर चकरा जाता है। यह चक्र **सनात्**=सदा से **सनाभिः**=समान नाभिवाला होता हुआ **एव**=भी **न छिद्यते**=छिन्न नहीं होता।

भावार्थ—यह भूमण्डल का चक्र अपनी कीली पर निरन्तर घूम रहा है। यह पाँच भागों में बटा हुआ है। अनन्त बोझ से लदा हुआ इस पृथिवी का अक्ष सन्तप्त नहीं होता। समान नाभिवाला होता हुआ भी यह चक्र कभी छिन्न नहीं होता। 'पृथिवी च दृढा' यह नितान्त सत्य ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

कालचक्र

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥ १२॥

१. ज्ञानी लोग कालचक्र को **पञ्चपादम्**=पाँच पावोंवाला **आहुः**=कहते हैं। '**उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन**'—ये पाँच कर्म ही इसकी गति के द्योतक हैं। क्रिया होती है और वह क्रिया की गति ही काल के रूप में नापी जाती है। **पितरम्**=काल को वे पिता कहते हैं। '**कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत**' (अथर्व० १९.५३.५)। काल ही द्युलोक व पृथिवीलोकों को जन्म देता है, अतः यह उनका पिता है। **द्वादशाकृतिम्**=इसे बारह आकृतियोंवाला कहते हैं। बारह मास ही इसकी बारह आकृतियाँ हैं। इस काल को ही **दिवः परे अर्धे**=द्युलोक के उत्कृष्ट स्थान में **पुरीषिणम्**=जलवाला कहते हैं। कालविशेष में ही सूर्य की तीव्र किरणों से पृथिवीस्थ समुद्र वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र के रूप में परिणत हो जाता है। यह मेघरूप जलपूर्ण कुम्भ काल में ही स्थित है—'पूर्णः कुम्भो अधि काल आहितः (अथर्व० १९.५३.३)। २. **अथ**=अब **इमे अन्ये**=ये अन्य विद्वान् इस रूप में भी कालचक्र का वर्णन करते हैं कि **विचक्षणे**=अपनी सहस्रों आँखों से देखनेवाले (**काले चक्षुर्विपश्यति**—अथर्व० १९.५३.६) सबकी आँखों को देखने की शक्ति देनेवाले **सप्तचक्रे**=सात चक्रोंवाले (दिन-रात का चक्र, सात वारों का चक्र, दो पक्षों का चक्र, मासचक्र, ऋतुचक्र, अयनचक्र, शतवर्षचक्र) **षट् अरे**=छह ऋतुरूप छह अरोंवाले **उपरे**=(उपरमन्ते अस्मिन् प्राणिनः) प्राणियों के उपराम (दीर्घ विश्राम) के स्थानभूत इस काल में **अर्पितम्**=यह सारा विश्व अर्पित है।

भावार्थ—कालचक्र का विचार करते हुए हम उसे व्यर्थ न गँवाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्वादशार-चक्र

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥

१. यह कालचक्र **द्वादशारम्**=बारह अरोंवाला है। वैशाख आदि बारह मास ही इसके बारह अरे हैं। यह कालचक्र निरन्तर चलता है। **तत्**=वह **जराय नहि**=कभी जीर्ण नहीं होता। यह **चक्रम्**=चक्र तो **द्यां परि**=इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र **वर्वर्ति**=नित्य चलता ही चला जा रहा है। यह चक्र **ऋतस्य**=ऋत का—नियमित गति का है। हमें भी यह नियमित गतिवाला होने का उपदेश कर रहा है। २. हे **अग्ने**=निरन्तर आगे और आगे चलनेवाले कालचक्र! तेरे **सप्तशतानि विंशतिः च**=सात सौ बीस दिन-रातरूप **मिथुनासः**='दिवस-रजनी', 'वासर-वाशुरा', 'घस्र-निशा' नामक द्वन्द्वरूप **पुत्राः**=पुत्र **अत्र**=यहाँ—ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में **आतस्थुः**=स्थित हैं। दिन कार्य करने के लिए है और रात्रि विश्राम के लिए। दिनभर काम करता हुआ और रात्रि में विश्राम लेता हुआ यह व्यक्ति पवित्र बना रहता है। यह पवित्रता उसे सुन्दर, दीर्घजीवनवाला बनाती है। एवं, ये दिन-रातरूप मिथुन 'पु-त्र' हैं (पुनन्ति-त्रायन्ते)।

भावार्थ—बारह मासरूप बारह अरोंवाला यह कालचक्र इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र गति कर रहा है। इस कालचक्र में सात सौ बीस दिन-रात हैं। ये हमें कार्य व विश्राम के चक्र में चलाते हुए पवित्र और सुरक्षित बनाये रखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'रजः आवृतं' सूर्य चक्षु

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥

१. यह पृथिवी भी एक चक्र की भाँति है और इस चक्र की 'नेमि' बदलती नहीं रहती। यह **सनेमि**=समान नेमिवाला है—इस पृथिवीचक्र की परिधि जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। यह **चक्रम्**=समान नेमिवाला पृथिवीचक्र **अजरम्**=अजर है—कभी जीर्ण नहीं होता। यह **विवावृते**=विशेष तीव्र गति से सूर्य के चारों ओर बारम्बार घूम रहा है। प्रतिवर्ष यह अपना चक्राकार भ्रमण पूर्ण कर लेता है। २. इस **उत्तानायाम्**=न तो सम और न ही अवतल (Concave), अपितु उत्तान, (Convex) इस भूचक्र पर अवस्था व विकास के दृष्टिकोण से **दश**=दस स्थितियों में वर्त्तमान पुरुष **युक्ताः**=अपने-अपने व्यापार में लगे हुए **वहन्ति**=जीवन का वहन कर रहे हैं। आयुष्य की दश दशतियों में चलते हुए व्यक्ति ही यहाँ 'दश' कहे गये हैं। ३. **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य का प्रकाश **रजसा**=अन्तरिक्षस्थ जलवाष्पों से आवृत्त हुआ-हुआ **एति**=हम तक पहुँचता है। इतने दीर्घ आवरणों को पार करने के कारण ही हमें सूर्यकिरणों की प्रचण्ड उष्णता अनुभव नहीं होती। यह सूर्यचक्षु वह है, **यस्मिन्**=जिस रजःआवृत्त सूर्यप्रकाश में ही **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आतस्थुः**=स्थित हैं। इस प्रकाश के अभाव में जीवन सम्भव नहीं।

भावार्थ—इस भूचक्र की परिधि कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। इस उत्तान भूचक्र में जीवन की दस दशतियों में वर्त्तमान मनुष्य अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए चल रहे हैं। इस भूचक्र पर सूर्य का प्रकाश विशाल अन्तरिक्ष-समुद्र में से होकर हम तक पहुँचता है। इस सूर्यप्रकाश से ही सब जीवित हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्रः=पितुः पिता

स्त्रियः॑ स॒तीस्ताँ उ॑ मे पुंस आ॑हुः॒ पश्य॑दक्ष॒ण्वान्न वि चे॑तद॒न्धः।
क॒विर्यः पु॒त्रः स ई॑मा चिकेत॒ यस्ता वि॑जा॒नात्स पि॒तुष्पि॒ताऽस॑त्॥ १५॥

१. इन्द्रियाँ विषयों से मेल (संघात) के कारण 'स्त्रियः' कहाती हैं। (स्त्यै संघाते)। यास्क कहते हैं—'**स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः**'—शब्दादि विषयों का हरण करने से ये स्त्रियाँ ही हैं। ये ही इन्द्रियाँ संयत होने पर ज्ञानोपार्जन का साधन बनकर रक्षा करनेवाली होती हैं, अतः 'पुमस्' (पा डुयसुन्) कहलाती हैं। एक संयमी पुरुष कहता है कि **स्त्रियः सतीः**=स्त्री होते हुए **तान् उ**=उन इन्द्रियों को ही **मे**=मेरे लिए **पुंसः आहुः**=पुमान् कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रियों की इस द्विरूपता को **पश्यत्**=देखनेवाला व्यक्ति ही **अक्षण्वान्**=उत्तम आँखोंवाला है, परन्तु जो **न विचेतत्**=इस द्विरूपता को नहीं समझता वह **अन्धः**=अन्धा है। विषयों में ले-जाकर, क्षणिक आनन्द के भोगों में फँसाकर ये हमें समाप्त भी कर सकती हैं और संयत होकर उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति का साधन होती हुई ये हमारी रक्षा करनेवाली भी हो सकती हैं। २. **यः**=जो **ईम्**=अब **आचिकेत**=इन इन्द्रियों के स्वरूप का सर्वथा अनुशीलन करके इन्हें समझ लेता है, **सः**=वह **कविः**=ज्ञानी बनता है और **पुत्रः**=ज्ञान द्वारा अपना पवित्रीकरण करके अपना रक्षण करनेवाला होता है। **यः**=जो **ताः**='स्त्रियः' शब्द से कही गई इन इन्द्रियों को **विजानात्**=अच्छी प्रकार समझ लेता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् रक्षक होता है। वह इन्द्रियों को विषयों में फँसने से रोककर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनाता हुआ अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयासक्त करके हमारे संघात (विनाश) का भी कारण बनती हैं और ज्ञान-प्राप्ति का साधन होती हुई ये इन्द्रियाँ हमें पवित्र बनाती हैं। इनके स्वरूप को समझकर हम इनका ठीक प्रयोग करते हुए ज्ञान द्वारा अपना रक्षण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

धामशः, न कि रूपशः

सा॒क॑ंजानां॑ स॒प्तथ॑माहुरेक॒जं षडिद्य॒मा ऋष॑यो देव॒जा इति॑।
तेषा॑मि॒ष्टानि॒ विहि॑तानि धाम॒श स्था॒त्रे रे॑जन्ते॒ विकृ॑तानि रूप॒शः॥ १६॥

१. जब जीव शरीर ग्रहण करता है तब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आत्मा के साथ ही शरीर में प्रवेश करते हैं (सह उत्पन्नानां षड् इन्द्रियाणाम्—यास्क)। ये **साकंजानाम्**=साथ ही होनेवाली इन इन्द्रियों के **सप्तथम्**=सातवें बुद्धितत्त्व को भी **एक-जम्**=उस मुख्य आत्मतत्त्व के साथ रहनेवाली **आहुः**=कहते हैं। आत्मा शरीर-रथ का रथी है तो बुद्धि सारथि है। यह सारथि मनरूप लगाम के द्वारा इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में रखता है। ये **षट्**=मन व इन्द्रियाँ बुद्धिरूप सारथि से नियन्त्रित होने पर **यमाः इत्**=निश्चय से यम (नियन्त्रित) कहलाती हैं। उस समय ये **ऋषयः**=तत्त्वदर्शन करनेवाली होती हैं और **देवजाः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली होती हैं। ये हमें ज्ञान व दिव्य सम्पत्ति से भर देती हैं। **इति**=बस, नियन्त्रित हुई-हुई ये ज्ञान व दिव्य गुणों को देनेवाली-सी बनती हैं। २. प्रभु ने **तेषाम्**=उन मन, इन्द्रियों व बुद्धि का **धामशः**=शक्ति के दृष्टिकोण से **इष्टानि विहितानि**=वाञ्छनीय पदार्थों का निर्माण किया है। हमें इन सांसारिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, **रूपशः**=सौन्दर्य व स्वादादि के मापक से इन पदार्थों का प्रयोग होने पर **विकृतानि**=विकृत हुई-हुई ये इन्द्रियाँ **स्थात्रे**

रेजन्ते=इस शरीररूप रथ पर रहनेवाले अधिष्ठाता जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली हो जाती हैं, अतः हमें इन पदार्थों का प्रयोग शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, न कि सौन्दर्य व स्वाद के लिए।

भावार्थ—शरीर में आत्मा के साथ प्रवेश करनेवाली इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं। बुद्धि से नियन्त्रित इन्द्रियाँ व मन हमें ज्ञान व दिव्य गुणों से भर देते हैं। यदि हम प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति को बढ़ाने के दृष्टिकोण से करते हैं तो ठीक है, परन्तु स्वाद व सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुई तो ये विकृत होकर जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वेदवाणी के चार लाभ

अवः परेण पर एनाऽवरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व ऽ स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ १७॥

१. **गौः**=यह वेदवाणी **पदा**=अपने अर्थगमक पाँवों से **वत्सम्**=(वदति) उच्चारण करनेवाले प्रिय जीव को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **उदस्थात्**=जीव को उन्नत स्थान में स्थित करती है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र तिष्ठति)। यह वेदवाणी **अवः**=इस निचले क्षेत्र में **परेण**=पर के द्वारा और **परः**=पर क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अवर के द्वारा—हमारा धारण करती है। 'पर' पराविद्या, 'अवर' अपराविद्या। अपराविद्या हमारे लिए सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करती है, परन्तु यदि यह पराविद्या से युक्त न हो तो मनुष्य इन पदार्थों का स्वादादि के लिए प्रयोग करता हुआ नष्ट हो जाता है। वह असुर-सा बन जाता है। इसी प्रकार पराविद्या के क्षेत्र में चलते हुए व्यक्ति के लिए यह अपराविद्या प्रकृति के अन्दर सौन्दर्य व व्यवस्था के अद्भुत चमत्कारों को दिखाती हुई साधक को प्रभु की महिमा को देखने योग्य बनाती है। एवं ये अवर पद उसे प्रभुभक्त बनाते हुए पर क्षेत्र में धारण करते हैं। २. **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चति) पृथिवी पर गति करती हुई **कं स्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=ऋद्ध स्थान को—सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर प्राप्त होती है। इस वेदवाणी के अवर पद इस पृथिवी पर प्राकृतिक देवों का बोध देते हैं तो पर पद उस प्रणेता (निर्माता) प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। एवं यह वेदवाणी हमें प्रकृति-विज्ञान में निष्णात करती हुई ब्रह्म का दर्शन कराती है। यह ब्रह्मद्रष्टा मुक्त हो जाता है, अतः यह वेदवाणी **क्व स्वित् सूते**=भला, फिर यह जन्म कहाँ देती है?, अर्थात् उस तत्त्वद्रष्टा को सुदीर्घकाल के लिए मुक्त कर देती है। यदि यह वेदाध्येता एक जन्म में मुक्त न भी हो सके तो भी निश्चय से वह **यूथे अस्मिन् नहि**=इस सामान्य लोकसमूह में तो उसे जन्म नहीं देगी। यह 'शुचीनां श्रीमताम्' अथवा 'योगिनामेव', शुचि, श्रीमान् व योगियों के घरों में जन्म लेनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें १. ज्ञानद्वारा उच्च स्थान पर पहुँचाती है। २. यह प्रकृति विद्या से जाने गये पदार्थों से हमें शक्तिसम्पन्न बनाती हुई आत्मविद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त कराती है। ३. देवों का ज्ञान देती हुई महादेव की महिमा का दर्शन कराती है। मोक्ष को प्राप्त करने योग्य न होने पर भी यह हमें उत्कृष्ट कुलों में जन्म देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

देवं मनः

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ १८॥

१. **अवः**=(अवस्तात्) प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **पितरम्**=पालक को **वेद**=जानता है और **अवः परेण**=जैसे प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से, इसी प्रकार **परः**=पराविद्या के क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अपरा विद्या के प्रतिपादक वाक्यों से वह प्रभु को जानता है। विद्या और अविद्या (अपराविद्या) को मिला देने से ही मनुष्य प्रकृति द्वारा अपना पालन करता हुआ प्रभु को पानेवाला बनता है। २. **कवीयमानः**=एक क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा की भाँति आचरण करता हुआ यह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला व्यक्ति **इह**=यहाँ **प्रवोचत्**=इस ज्ञान का प्रवचन करता है। इस तत्त्वद्रष्टा के जीवन में **कु-तः अधि**=(कु पृथिवी) पृथिवी से ऊपर उठकर **देवं मनः**=दैवी वृत्तिवाला मन **प्रजातम्**=प्रादुर्भुत हुआ है। 'देवो दानात्' यह प्रजाओं के लिए ज्ञान देने में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—अपराविद्या व पराविद्या को मिलाकर जो ब्रह्माण्ड के पिता प्रभु को जानने का प्रयत्न करता है वह क्रान्तदर्शी, आनन्दमय स्वभाववाला व्यक्ति औरों के लिए इस तत्त्वज्ञान को देता हुआ आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र+सोम

ये अ॒र्वाञ्च॒स्ताँ उ॒ परा॑च आहु॒र्ये परा॑ञ्च॒स्ताँ उ॑ अ॒र्वाच॑ आहुः।
इन्द्र॑श्च॒ या च॒क्रथुः॒ सोम॒ तानि॑ धु॒रा न यु॒क्ता रज॑सो वहन्ति॥ १९॥

१. **ये**=जो **अर्वाञ्चः**=अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **पराचः आहुः**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य कहते हैं। अपराविद्या के वाक्यों को समझने पर एक-एक प्राकृतिक पदार्थ में प्रभु की महिमा दीखने लगती है। इसप्रकार ये हमें पराविद्या की ओर ले-जाते हैं। ये **पराञ्चः**=जो पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **अर्वाचः आहुः**=अपराविद्या के प्रतिपादक कहते हैं। कर्त्ता को समझते हुए हम कर्ता की रचना को भी समझने लगते हैं। २. **न**=जैसे एक रथ के दो पहिए **धुरा**=अक्ष से **युक्ता**=जुड़े हुए रथ की अग्रगति के साधक होते हैं, उसी प्रकार ये अपरा और परा-विद्याएँ परस्पर जुड़ी हुई मनुष्य को **रजसः वहन्ति**=रजोगुण से ऊपर उठा देती है। केवल अपराविद्या मनुष्य को विलासी बना देती है और केवल पराविद्या उसे अकर्मण्य-सा कर देती हैं। इनका मेल उसे क्रियाशील व अनासक्त बनाकर सत्त्वगुण में अवस्थित करनेवाला होता है। २. ये अपरा व पराविद्या के प्रतिपादक वेदवाक्य **तानि**=वे हैं **या**=जिन्हें **इन्द्रः च**=जितेन्द्रिय पुरुष और **सोम**=हे सौम्यस्वभाव सम्पन्न पुरुष! **चक्रथुः**=तुम दोनों साक्षात् किया करते हो। आदर्श विद्यार्थी 'इन्द्र' है, आदर्श आचार्य सोम है। ये आचार्य व विद्यार्थी दक्षिण व उत्तर अरणि हैं, इनके मिलने से ही ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में अपरा व पराविद्या का समन्वय करते हुए रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित हों। सौम्यता व जितेन्द्रियता का मेल हमारे जीवन में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वा सुपर्णा

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते।
तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति॥ २०॥

१. **द्वा सुपर्णा**=जीवात्मा व परमात्मा दो सुपर्ण हैं—उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले

हैं। परमात्मा का पालनात्मक कर्म सर्वत्र प्रत्यक्ष है। जीव भी सद्गृहस्थ बनकर एक परिवार का पालन करता है। ये दोनों **सयुजा**=एक साथ मिलकर हृदयान्तरिक्ष में रहनेवाले हैं, **सखाया**=सखा हैं—दोनों का इकट्ठा ही दर्शन होता है। ये दोनों **समानं वृक्षम्**=एक ही संसाररूप वृक्ष का **परिषस्वजाते**=आलिंगन करते हैं, दोनों इस संसार में रहते हैं। २. **तयोः अन्यः**=उन दोनों सुपर्णों में से एक जीव **पिप्पलम्**=संसार-वृक्ष के फल को **स्वादु अत्ति**=मज़ा लेकर खाता है। **अन्यः**=दूसरा प्रभु **अनश्नन्**=फलों का किसी प्रकार से भोग न करता हुआ **अभिचाकशीति**=चारों ओर, इन फलों को खाते हुए जीवों को देखता है। जीव शरीर रक्षण के लिए खाता है तो ठीक है, स्वाद के लिए खाने लगता है, तो प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा 'सुपर्ण' हैं, 'सयुज्' हैं, 'सखा' हैं। एक ही प्रकृतिवृक्ष पर रहते हैं। जीव स्वाद से इस प्रकृतिवृक्ष के फलों को खाता है, परन्तु प्रभु उसे केवल देखते हैं और आवश्यक होने पर दण्डित करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु का ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २१॥

१. **यस्मिन् वृक्षे**=विकृतिरूप जिस संसार-वृक्ष पर **मध्वदः सुपर्णाः**=(मधुः अदः) बड़े स्वाद से इस वृक्ष के फलों को भोगनेवाले व बड़े प्रयत्न से (सु) अपने पालन के लिए विविध भोगों को अपने भण्डार में पूरित करनेवाले जीव **निविशन्ते**=(निविश् to be attached to) अनुरक्ति व आसक्तिवाले हो जाते हैं **च**=और इस आसक्ति के कारण **विश्वे**=इसमें प्रविष्ट हुए-हुए, अर्थात् उलझे हुए-हुए ये जीव **अधि सुवते**=खूब अधिकता से इन विषयरूप फलों का लाभ करते हैं (विषयान् लभन्ते—सा०)। २. **तस्य**=उस संसार-वृक्ष का **यत्**=जो **अग्रे स्वादुः**=स्वादिष्टों में अग्रगण्य **पिप्पलम्**=(मोक्षरूप) फल है, **तत्**=उस मोक्षरूप फल को **न उत् नशत्**=नहीं प्राप्त होता, **यः**=जोकि **पितरं न वेद**=इस वृक्ष पर ही रहनेवाले सब जीवों के रक्षक पिता को नहीं जानता।

भावार्थ—प्रभु को जाननेवाला ही प्रभु की महिमा को समझकर उस परमानन्द की प्राप्ति की तुलना में इन भोगों की तुच्छता को समझता है तो इन भोगों के प्रति निर्विण्ण हो जाता है। प्रभु को जाने बिना मोक्ष-सुख सम्भव नहीं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान परिपक्वता व प्रभु-प्राप्ति

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ २२॥

१. **यत्र**=जब **सुपर्णाः**=(सुपत्नानि इन्द्रियाणि वा) उत्तम गतिवाली इन्द्रियाँ **अनिमेषम्**=बिना पलक झपकाए, अर्थात् निरन्तर दिन-रात **विदथा**=ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से **अमृतस्य भक्षम्**=(अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्—तै०उ० १.२५.१०) ज्ञान के भोजन का **अभिस्वरन्ति**=लक्ष्य करके इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करती हैं, तब **एना**=इस ज्ञान की वाणी के उच्चारण से, अर्थात् जीवन को ज्ञानप्रधान बना देने से **सः**=वह **विश्वस्य भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक **धीरः**=(धियं ईरयति) बुद्धि को प्रेरणादेनेवाला प्रभु **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **पाकः**=(परिपक्वमनस्कम्—सा०) ज्ञान से परिपक्व मनवाले **मा**=मुझे **आविवेश**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम दिन-रात ज्ञान की वाणियों के अपनाने का प्रयत्न करें। इसप्रकार ज्ञान से परिपक्व मनवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त होनेवाले होंगे।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

तीन बातों को समझना

यद्गा॑यत्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत्तद्वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥ १॥

१. पहली बात यह है **यत्**=कि **गायत्रे**=यज्ञ में (गायत्रो वै यज्ञः—गो०पू० ४.२४) **गायत्रम्**=पुरुष (गायत्रो वै पुरुषः—ए० ४.३) **अधि आहितम्**=अधीन करके रक्खा गया है। पुरुष का जीवन यज्ञ पर आश्रित है। यज्ञ के अभाव में पुरुष नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। '**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**'—यह यज्ञ ही भुवन का केन्द्र है। २. **वा**=और **त्रैष्टुभात्**=त्रिवेद-विद्या के स्तवन के द्वारा—अपने में 'ज्ञान, कर्म व उपासना'—इन तीनों को स्थिर करने के द्वारा **त्रैष्टुभं निरतक्षत**=अपने जीवन को तीनों सुखों से सम्बद्ध किया करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा प्रभु के उपासन से आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक'—इन तीनों तापों से निवृत्त होकर (त्रि+ष्टुभ्) मानव जीवन तीन सुखों से सम्बद्ध होता है। (त्रैष्टुभः त्रिभिः सुखैः सम्बद्धः—द०, त्रिवेदविद्यास्तवनेन—द०)। ३. तीसरी बात यह है **यत्**=कि **वै**=निश्चय से **जगत्**=सर्वत्र गतिवाला **पदम्**=मुनियों से जाए जाने योग्य वह प्रभु **जगति आहितम्**=सारे ब्रह्माण्ड में—कण-कण में आहित हैं। **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस कण-कण में वर्त्तमान प्रभु को जानते हैं, **ते**=वे **अमृतत्वम् आनशुः**=मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मोक्ष को वे ही प्राप्त करते हैं जोकि यह समझ लेते हैं कि १. यज्ञ में ही पुरुष का जीवन निहित है, २. ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय ही त्रिविध दुःखों को रोकता है तथा ३. वे गतिशील मुनियों से गम्य प्रभु ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

गायत्र-अर्क-साम (त्रैष्टुभ)-वाक्

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्विप॒दा च॒तुष्प॒दाऽक्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॥ २॥

१. **गायत्रेण**=यज्ञ के द्वारा **अर्कम्**=उपासना को—पूजा को **प्रतिमिमीते**=सम्यक्तया सिद्ध करता है, अर्थात् प्रभु का वास्तविक उपासन यज्ञों के द्वारा ही निष्पन्न होता है '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'—देव यज्ञरूप विष्णु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना करते हैं। **अर्केण**=इस अर्चना से ही **साम**=सच्ची शान्ति प्राप्त होती है। उपासना से ही त्रिविध तापों का निरोध होकर जीवन शान्त बनता है। **त्रैष्टुभेन वाकम्**=त्रिविध तापों के समाप्त होने पर ज्ञान (वेदवाणी) की प्राप्ति होती है। सब प्रकार से शान्त वातावरण में ही ज्ञान का विकास होता है। २. **वाकेन वाकम्**=अब एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान **द्विपदा चतुष्पदा**=दिन दुगना और रात चौगुना (by leaps and bounds) बढ़ने लगता है, अर्थात् हम ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर पूर्ण तीव्रता से बढ़ चलते हैं। प्रारम्भिक साधना ही समय की अपेक्षा करती है, फिर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है और यह साधक **अक्षरेण**=अविनाशी, सर्वव्यापक प्रभु के द्वारा **सप्त वाणीः प्रति मिमते**=सप्त छन्दोमयी इस वेदवाणी को मापने लगते हैं। हृदयस्थ प्रभु ही इन्हें वेद का साक्षात्कार कराने लगते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करें। इस उपासन से हमारा जीवन दुःखत्रय निवृत्ति द्वारा शान्त बनेगा। शान्त जीवन में ज्ञानवृद्धि होगी और उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि होती हुई, हमें हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान-सन्देश के सुनने के योग्य बनाएगी।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रथन्तरे सूर्यम्

जगता सिन्धुं दिव्य स्कभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥ ३॥

१. **जगता**=उस सर्वगत, सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वं वा इदमात्मा जगत्) प्रभु के द्वारा उपासक **सिन्धुम्**=अपने ज्ञान-समुद्र को (वाग्वै समुद्रः—तां० ६।४।७) **दिवि अस्कभायत्**=द्युलोक में, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर थामता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने पर **रथन्तरे**=इस पृथिवी पर ही (इयं पृथिवी वै रथन्तरम्—कौ० ३।५), **सूर्यम्**=स्वर्ग को (एष आदित्यः स्वर्गो लोकः—तै० ३।८।१०।३) **परि अपश्यत्**=चारों ओर देखता है। ज्ञान निष्कामता को जन्म देता है, निष्कामता स्वर्ग को। ज्ञानवृद्धि से द्वेषशून्य होकर हम इस पृथिवी पर स्वर्ग को अवतीर्ण करनेवाले बनेंगे।

२. 'गायत्र से उपासना, उपासना से शान्ति, शान्ति से ज्ञान' इस ज्ञानचक्र में ज्ञान-सिन्धु का आदिस्रोत गायत्र ही है। इस **गायत्रस्य**=यज्ञ की **समिधः**=समिन्धन—दीप्त करनेवाली वस्तुएँ **तिस्रः आहुः**=तीन कही गई हैं। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा'—इन पाँच देवों का पूजन पहली समिधा है। इनके साथ मेल (संगतिकरण) दूसरी तथा इनके प्रति अर्पण तीसरी समिधा है। इस ज्ञानयज्ञ की अग्नि में शिष्य से डाली जानेवाली ये तीन समिधाएँ हैं। आचार्य से डाली जानेवाली समिधाओं का नाम 'पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान, अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान' है। **तत्**=उस ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य **मह्ना**=बल के दृष्टिकोण से और **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **प्ररिरिचे**=सभी को लाँघ जाता है। यही मनुष्य की महिमा है कि वह ज्ञान के द्वारा इस मर्त्यलोक को ही स्वर्गलोक बना दे।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की उपासना द्वारा सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा इस भू-मण्डल को वह स्वर्ग बना देता है। इस ज्ञान-यज्ञ में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक'-स्थ पदार्थों के ज्ञान की आहुति देता हुआ वह बल व महिमा के दृष्टिकोण से सभी को लाँघ जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुदुघा धेनु

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभी द्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्॥ ४॥
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाऽभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ ५॥

व्याख्या देखें—अथर्व० ७।७३।७-८ वहाँ 'अभ्यागात्' के स्थान पर 'न्यागन्' पाठ है। अर्थ समान ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गौः, अमीमेत्

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ ६॥

१. **गौः**=यह वेदवाणीरूप गौ **मिषन्तम्**=(मिष् to look at) ध्यान से देखते हुए **वत्सम् अभि**=उच्चारण करनेवाले के प्रति **अमीमेत्**=शब्द करती है—बोलती है। यदि हम इस वेदवाणी को ध्यान से देखेंगे और इसे पढ़ेंगे तो यह हमारे प्रति बोलेगी, अर्थात् यह हमें अवश्य समझ में आएगी। यह वेदमाता ध्यान से पढ़नेवाले के **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **हिंकृणोत्**=ज्ञान की किरणों से जगमग कर देती है (रश्मयो वै हिंकारः)। इसलिए इसके मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करती है कि **मातवा उ**=यह उत्तम ज्ञानी बनकर निर्माण का कार्य कर सके। २. **सृक्वाणम्**=(सृज उत्पन्न करना) उत्पादक **घर्मम्**=तेज को **अभिवावशाना**=पाठक के लिए चाहती हुई, यह वेदवाणी अपने पाठक को **मायुम्**=(माया=ज्ञान) ज्ञानवाला **मिमाति**=बनाती है। एवं, वेदज्ञ विद्वान् ध्वंस के साधनों को नहीं अपितु निर्माण के लिए उपयोगी वस्तुओं को ही आविष्कृत करता है। इसप्रकार यह वेदवाणी **पयोभिः**=अपने ज्ञानरूपी दुग्ध से **पयते**=अपने पाठक को आप्यायित करती है। यदि व्यक्ति इस वेदवाणी का ध्यान से पाठ करता है, तो यह उसका प्रतिफल ज्ञानरूप दूध से देती है।

भावार्थ—यदि हम वेदवाणी को ध्यान से पढ़ेंगे तो यह अवश्य समझ में आएगी। समझ में आने पर यह हमें निर्माण में प्रवृत्त करेगी। इस प्रवृत्ति के साथ हममें उत्पादन की शक्ति भी होगी और हम उत्पादन-शक्ति से इस संसार को अवश्य सुन्दर बना पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

वेदज्ञान का क्रम

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ ७॥

१. **येन**=जिसने **गौः अभिवृता**=चारों ओर से अपना ध्यान हटाकर वेदवाणी को वरा है, अर्थात् उसी में अपने मन को केन्द्रित किया है, **अयं सः**=यह वेदाध्येता **शिंक्ते**=अव्यक्त ध्वनि करता है। यद्यपि उसे वेदार्थ अभी व्यक्त नहीं, तो भी श्रद्धापूर्वक, ध्यान से उसका पाठ करता है, तो **ध्वसनौ**=अज्ञान के ध्वसं में **अधिश्रिता**=लगी हुई यह वेदवाणी उस पुरुष को **मायुं मिमाति**=ज्ञानवाला बनाती है। २. **सा**=वह वेदवाणी **चित्तिभिः**=कर्त्तव्याकर्त्तव्यों के ज्ञान द्वारा **हि**=निश्चय से **मर्त्यम्**=मनुष्य को **निचकार**=ऊँचा उठाती है, (निकार lift up) और **विद्युत् भवन्ती**=विशेषरूप से द्योतमान होती हुई **वव्रिम्**=अपने रूप को **प्रति औहत**=प्रकट करती है।

भावार्थ—वेद को समझने के लिए १. मनुष्य अन्यत्र श्रम न करके श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन में ही लगे। अर्थ समझ में न भी आये तो भी उसका पाठ करे। २. धीरे-धीरे यह वेदवाणी उसके अज्ञान को नष्ट करती हुई उसे ज्ञानी बनाएगी। ३. कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के द्वारा उसके आचरण व व्यवहार के स्तर को ऊँचा करेगी और ४. अन्त में यह वेदवाणी उसके सामने स्पष्ट हो जाएगी। वह इसका ऋषि—द्रष्टा बनेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीव 'शरीर में व शरीर के बाहर'

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्या ∫ नाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ८॥

१. यह जीव **पस्त्यानां मध्ये**=इन शरीररूप गृहों के बीच में **अनत्**=श्वासोच्छ्वास की क्रिया को चलाता हुआ **आशये**=निवास करता है। प्राणों का कार्य तभी तक चलता है, जब तक इस शरीर में जीव का निवास है। **तुरगातु**=यह तूर्णगमन है—बड़ी तीव्रता से सब व्यापारों को

करनेवाला है। एक ही सैकिण्ड में कितनी ही आकृतियों को देख जाता है। **जीवम्**=इसी के कारण शरीर जीवनवाला कहाता है। यह गया और देह निर्जीव हुई। **एजत्**=यही सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गतिवाला करता है। इस प्राकृतिक अतएव जड़ शरीर में स्वयं गति नहीं। **ध्रुवम्**=यह आत्मा ध्रुव है। यह ध्रुव आत्मा ही इस पिण्ड को गतिमय बनाता है। २. **मृतस्य**=इस मृत—त्यक्त-प्राण शरीर का **जीवः**=जिलानेवाला आत्मा **स्वधाभिः**=अपनी धारक शक्तियों के द्वारा **चरति**=ब्रह्म के साथ इस वायु में विचरता है (अयं वै यमः योऽयं पवते)—यमलोक, अर्थात् वायुलोक में जाता है। यह **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा होता हुआ भी **मर्त्येन सयोनिः**=इस मर्त्य शरीर के साथ समान योनिवाला होता है। सामान्य भाषा में इसे 'पैदा होता हुआ और मरता हुआ' कह देते हैं।

भावार्थ—इस शरीर के साथ होता हुआ यह जीव प्राण धारण करता हुआ, विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गति देता हुआ शीघ्रता से कार्य करता है। मृत शरीर को छोड़कर यह अपनी धारण-शक्तियों के साथ यमलोक (वायुलोक) में विचरता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवन का प्रारम्भ, मध्य व अन्त

विधुं दद्राणं समिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥ ९॥

१. जिस दिन जीव शरीर धारण किये हुए मातृगर्भ से बाहर आता है, उस दिन वह **विधुम्**=चन्द्रमा-सा प्रतीत होता है। **सलिलस्य पृष्ठे**=जल के समान प्रवाहमय इस संसार के पृष्ठ पर चन्द्रमा के समान उदित हुए-हुए, कुछ देर बाद **दद्राणम्**=टेढ़ी-मेढ़ी गति करते हुए, धीमे-धीमे **युवानं सन्तम्**=युवा होते हुए इस पुरुष को **पलितः जगार**=पालित्य—बालों की सफेदी निगल लेती है। हे जीव! **देवस्य**=उस सारे संसार-व्यवहार को चलानेवाले प्रभु के **काव्यम्**=काव्य को—कविकर्म को—ज्ञानयुक्त इस कर्म को **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **पश्य**=देख कि **अद्या ममार**=आज वह मर गया है, **सः**=वह जोकि **ह्यः समान**=कल ही सम्यक् प्राणधारण किये हुए था। यह जीवन व मृत्यु भी उस अचिन्त्य प्रभु का एक रहस्यम काव्य ही है।

भावार्थ—जीव 'चन्द्र' के समान आता है, टेढ़े-मेढ़े पग रखने लगता है, युवा होता है और अब धीरे-धीरे उसे बालों की सफेदी निगलने लगती है। एक दिन क्या देखते हैं कि वह चला गया जोकि कल ही सम्यक् प्राणित था और सब व्यवहार कर रहा था।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रहस्यमय जन्म-मरणचक्र

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥ १०॥

१. **यः**=जो पिता **ईम्**=निश्चय से **चकार**=अपने वीर्यदान से इसके शरीर को बनाता है, **सः**=वह पिता भी **अस्य न वेद**=इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। 'यह कहाँ था, हमारा इससे क्या सम्बन्ध था' इस विषय में पिता को कुछ भी पता नहीं। **यः**=जो माता व पिता **ईम्**=अब **ददर्श**=इसे देख रहे हैं, **तस्मात् इत् न हिरुक्**=उनसे वह अन्तर्हित ही है। २. **सः**=वह **मातुः योनौ अन्तः**=माता की योनि के अन्दर **परिवीतः**=उल्व व जरायु से परिवेष्टित हुआ-हुआ—मानो एकदम एकान्त में छिपा हुआ यही सोच रहा होता है कि **बहुप्रजाः**=(बहुजन्मभाक्—सा०) अरे! मैं तो कितने ही जन्मों का भागी बना हूँ। **निर्ऋतिः**=दुर्गति का पुतला बना हुआ

मैं यहाँ **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ हूँ। न जाने कब इससे मेरा छुटकारा हो पाएगा। '**अहो दुःखोदधौ मग्ना न पश्यामि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥**' दुःख-समुद्र में डूबे हुए मुझे कुछ सूझता ही नहीं। अब यदि इस योनि से मुक्त होकर संसार में आऊँगा तो प्रभु का उपासन करूँगा और इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए यत्नशील होऊँगा।

भावार्थ—जन्म-मरण का चक्र रहस्यमय है। गर्भस्थ बालक अपने पिछले जन्मों व कष्टों का स्मरण करता हुआ निश्चय करता है कि इस बार जन्म लेने पर वह प्रभु-स्मरण में प्रवृत्त होगा और इस चक्र से मुक्त होने का प्रयत्न करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

लोकहित के लिए शरीर-धारण

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ११॥

१. **गोपाम्**=इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले को **अनिपद्यमानम्**=फिर-फिर विविध योनियों में नीचे न गिरते हुए को **अपश्यम्**=मैंने देखा है। जितेन्द्रियता द्वारा मुक्त हुए-हुए इस पुरुष को **आ च परा च**=समीप और दूर—हमारी ओर आनेवाले व हमसे दूर जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **चरन्तम्**=विचरण करते हुए को मैंने देखा है। जहाँ हम हैं, वहाँ भी आता है, और हमसे दूर अन्य लोक-लोकान्तरों में भी जाता है। २. **सः**=वह मुक्तात्मा लोकहित के लिए **सध्रीचीः**=(सह अञ्चति) जिन शरीरों से हमारे साथ उठता-बैठता है, उन शरीरों को **वसानः**=धारण करने के स्वभाववाला होता है। इन शरीरों से हमें उपदेश देता हुआ अपने जन्म-धारण के उद्देश्य को पूरा करता है। **सः विषूचीः**=वह चारों ओर विविध लोकों में जानेवाले शरीरों को भी धारण करता है। इसप्रकार यह समय-समय पर शरीर धारण करता हुआ **भुवनेषु अन्तः**=इन भुवनों में **आवरीवर्ति**=चारों ओर फिर-फिर आवर्तनवाला होता है। लोकहित के लिए जन्म लेनेवाले ये पुरुष ही 'अतिमानव' व महापुरुष हुआ करते हैं।

भावार्थ—पूर्ण जितेन्द्रिय पुरुष मुक्त हो जाता है। यह समय-समय पर शरीर धारण करके लोकहित के लिए भुवनों में विचरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पिता, माता (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १२॥

१. **द्यौः**=यह द्युलोक **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमारा **पिता**=सूर्य के द्वारा वृष्टि व प्राणशक्ति प्राप्त कराके रक्षण कर रहा है। **जनिता**=यही हमें जन्म देनेवाला है—हमारी शक्तियों के प्रादुर्भाव का कारण बनता है। **नाभिः**=यह सब लोकों का बन्धन-स्थान (केन्द्र) है। **इयम् मही पृथिवी**=यह महनीय विस्तृत भूमि **नः बन्धुः**=हमारी मित्रवत् हितकारिणी है। **माता**=यही हमारे जीवन की निर्मात्री है—सब अन्नों को उत्पन्न करके हमारा पालन करती है। २. इन **उत्तानयोः चम्वोः**=(चम्वौ द्यावापृथिव्यौ—निरु०) उत्तमता से विस्तृत द्यावापृथिवी का **योनिः**=शक्ति के मिश्रण का स्थान **अन्तः**=मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में है। **अत्र**=यहाँ अन्तरिक्षलोक में ही **पिता**=सबका रक्षक यह द्युलोक **दुहितुः**=अन्न आदि के द्वारा सबका धारण करनेवाली पृथिवी में **गर्भम् आधात्**=गर्भ को धारण करता है। अन्तरिक्ष से ही वृष्टि आदि होकर पृथिवी में अन्नादि

को पैदा करने की शक्ति का स्थापन किया जाता है।

भावार्थ—द्युलोक हमारा पिता है तो पृथिवी हमारी माता है। इन दोनों का मेल अन्तरिक्ष में होता है। द्युलोक वृष्टि द्वारा इस पृथिवी में गर्भ का धारण करता है और तब सब अन्नादि पदार्थों का उत्पादन होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१३ त्रिष्टुप्, १४ जगती**॥

चार प्रश्न चार उत्तर

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्यो ∫ म॥ १३॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्यो ∫ म॥ १४॥

१. हे आचार्य! मैं **त्वा**=आपसे **पृथिव्याः परम् अन्तं पृच्छामि**=इस पृथिवी के परले सिरे के विषय में पूछता हूँ, अथवा इस पृथिवी का पर अन्त=अन्तिम उद्देश्य क्या है? आचार्य उत्तर देते हए कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि—जहाँ बैठे हुए हम विचार कर रहे हैं, **पृथिव्याः परः अन्तः**=पृथिवी का परला सिरा है। वर्तुलाकार होने से यह पृथिवी यहीं तो आकर समाप्त भी होती है, और हमारा अन्तिम उद्देश्य यही है कि हम पृथिवी को यज्ञवेदि बना दें। यह देवयजनी ही तो है। २. मैं **वृष्णः**=तेजस्वी **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पुरुष की **रेतः पृच्छामि**=शक्ति के विषय में पूछता हूँ। उत्तर यह है कि **अयं सोमः**=यह वीर्य ही इस **वृष्णः अश्वस्य**=शक्तिशाली अनथक कार्यकर्ता पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। यही उसे तेजस्वी व कार्यक्षम बनाती है। ३. **विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि, बन्धनस्थान व केन्द्र को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ ही तो **भुवनस्य नाभिः**=भुवन का केन्द्र है। यज्ञ ही सबका पालन कर रहा है। ४. अन्त में मैं **वाचः**=इस वेदवाणी के आधारभूत **परमं व्योम**=परमव्योम (आकाश) को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यह वेदवाणी शब्द किस आकाश का गुण है? उत्तर यह है कि **अयं ब्रह्मा**=यह सदा से बढ़ा हुआ प्रभु ही **वाचः**=वेदवाणी का **परमं व्योम**=परमव्योम है। '**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**'। सब ऋचाएँ उस परमव्योम में ही स्थित व इनका कोश है।

भावार्थ—हम पृथिवी को यज्ञवेदि के रूप में परिणत कर दें। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए तेजस्वी व अनथक कार्यकर्ता बनें। यज्ञ को ही पृथिवी का केन्द्र जानें और प्रभु को इस वेदवाणी का आधार जानते हुए प्रभु की उपासना से ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मनोबन्धन से मुक्ति

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ १५॥

१. **यदि वा इदम् अस्मि**='मैं यह हूँ या कुछ और हूँ' इसप्रकार ठीक-ठीक अपने ही रूप को **न विजानामि**=मैं नहीं जानता। न जानने का कारण यह है कि मैं **निण्यः**=अन्तर्हित हूँ—ढका हुआ-सा हूँ। ढके हुए होने का कारण यह है कि **मनसा**=मन से **सन्नद्धः**=सम्बद्ध होकर **चरामि**=मैं यहाँ संसार में विचर रहा हूँ। मन ने मुझे बुरी तरह से बाँधा हुआ है। २. **यदा**=जब कभी प्रभुकृपा से, सत्सङ्ग में श्रवण आदि के क्रम से **मा**=मुझे **ऋतस्य**=सब सत्य विद्याओं का

प्रकाश करनेवाली **प्रथमजाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई-हुई यह वेदवाणी **आगन्**=प्राप्त होती है, तब **आत् इत्**=उस समय अविलम्ब ही **अस्याः**=इस वेदवाणी से मैं **भागम्**=उस भजनीय आत्मज्ञान को **अश्नुवे**=प्राप्त कर लेता हूँ। वेदवाणी का सेवन मुझे सब व्यसनों से बचाकर मन की इस जकड़ से बचा लेता है।

भावार्थ—मन के वशीभूत हुआ-हुआ मैं आत्मस्वरूप को ही विस्मृत-सा कर बैठा था। अब वेदवाणी के सेवन से व्यसनों से ऊपर उठकर, अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनकर आत्मदर्शन के योग्य हुआ हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आत्मस्वरूप का अज्ञान'-रूप महान् आश्चर्य

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ १६॥

१. जीव कर्मानुसार **अपाङ्**=कभी स्थावर, कभी पक्षी-मृगादि की निचली योनियों में **एति**=जाता है और कभी **प्राङ्**=ऋषि-मुनि आदि की उत्कृष्ट योनियों को (एति) प्राप्त होता है। इस शरीर को छोड़ने पर **स्वधया**=अपनी धारण-शक्ति से **गृभीतः**=युक्त हुआ-हुआ यह दूसरे शरीरों में प्रवेश करता है। अपने लिए (स्व) जिन पाप-पुण्यों का उसने धारण किया है (धा lay by), उनसे युक्त हुआ-हुआ वह दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। **अमर्त्यः**=स्वरूप से जरामृत्यु से रहित भी यह **मर्त्येन सयोनिः**=मरणधर्मा शरीर के साथ ही समान जन्मवाला होता है। शरीर के साथ संयुक्त-वियुक्त होने से ही इसके लिए जन्म व मृत्यु के शब्दों का प्रयोग होने लगता है। २. **ता शश्वन्ता**=ये दोनों क्षर शरीर और अक्षर आत्मा सनातन काल से मिलते चले आ रहे हैं। ऐसा कोई समय नहीं जबकि यह शरीर प्रथम बार मिला हो। ये शरीर+आत्मा **विषूचीना**=ब्रह्माण्ड में चारों ओर भिन्न-भिन्न लोकों में जानेवाले हैं, केवल पृथिवी पर जन्म होता हो—ऐसी बात नहीं है। जब कभी यह जीव एक शरीर को छोड़ता है तब ये **वियन्ता**=विरुद्ध स्थितियों में जानेवाले होते हैं। गति देनेवाला अभौतिक आत्मा अमर है और इसके विपरीत यह भौतिक शरीर भस्म में परिणत हो जाता है—**'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्'**। सब कोई **अन्यम्**=इस शरीर को तो **निचिक्युः**=जानते हैं, इसे ही वस्तुतः अपना स्वरूप समझते हैं। **अन्यम्**=उस आत्मतत्त्व को **न निचक्युः**=नहीं जानते। 'अपने को ही न जानना' कितनी विचित्र बात है!

भावार्थ—अपने अर्जित पाप-पुण्यों के अनुसार जीव निचली व उपरली योनियों में जन्म लिया करता है। ये शरीर और आत्मा सदा से मेलवाले हैं, भिन्न-भिन्न लोकों में गतिवाले हैं। जीव शरीर को छोड़ता है तो आत्मा तो नये शरीर में प्रवेश पाता है और पुराना शरीर भस्मान्त होकर पञ्च तत्त्वों में मिल जाता है। 'हम शरीर को ही जानते हैं, अपने को नहीं जानते' यह कितना बड़ा आश्चर्य है!

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रकृति में प्रभु का दर्शन

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ १७॥

१. प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला 'महत्तत्त्व', महान् से उत्पन्न अहंकार तथा अहंकार से उत्पन्न पञ्च तन्मात्राएँ—ये **सप्त**=सात **अर्धगर्भाः**=समृद्ध उत्पादन सामर्थ्यवाले तत्त्व **भुवनस्य रेतः**=सारे

भुवनों की शक्ति हैं—उत्पत्ति के कारण हैं। ये सब **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **प्रदिशः**=शासन से **विधर्मणि तिष्ठन्ति**=धारणात्मक कार्य में स्थित हैं। उस प्रभु के शासन में ही अपना-अपना धारण-कार्य कर रहे हैं। २. **ते विपश्चितः**=वे विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले, **ते**=वे **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा और **मनसा**=मनन के द्वारा **परिभुवः**=उन पदार्थों का चारों ओर से (परि) विचार करनेवाले लोग **विश्वतः परिभवन्ति**=सब प्रकार से इन इन्द्रियों का परिभव करते हैं, इन्हें सब ओर से वशीभूत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से उत्पन्न होते हुए इस संसार के अधिष्ठाता उस प्रभु को न भूलेंगे तो संसार के विषयों में न फँसकर इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभुरूप 'परम' व्योम में

ऋचो अक्षरे परमे व्यो ∫ मन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते॥ १८॥

१. **ऋचः**=ऋचाएँ—गुण-वर्णनात्मक सभी मन्त्र **अक्षरे**=उस अविनाशी प्रभु का वर्णन कर रहे हैं, जोकि **परमे**=परम हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रकृति 'अपरा' है जीव 'पर' है और प्रभु 'परम' हैं। ये ऋचाएँ उस प्रभु का वर्णन करती हैं जोकि **व्योमन्**=(वि ओम् उन्) जिनके एक कन्धे पर प्रकृति है और दूसरे पर जीव (वि=प्रकृति, 'गति, प्रजनन, कान्ति, असन् व खादन' का यही तो आश्रय है, अन्=प्राणित होनेवाला जीव)। ये ऋचाएँ उस प्रभु में निषण्ण हैं, **यस्मिन्**=जिसमें कि **विश्वेदेवाः**=सब देव **अधि निषेदुः**=अधीन होकर निषण्ण हो रहे हैं। २. **यः**=जो **तत् न वेद**=उस प्रभु को नहीं जानता **ऋचा**=वह ऋचाओं से **किं करिष्यति**=क्या लाभ प्राप्त करेगा ? **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस व्यापक प्रभु को जानते हैं, **ते अमी**=वे ये लोग **समासते**=इस संसार में सम्यक् आसीन होते हैं—वे परस्पर प्रेम से उठते-बैठते हैं।

भावार्थ—सब ऋचाओं का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है, जोकि अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधार हैं। उसी प्रभु में सब देव निषण्ण हैं। प्रभु को नहीं जाना तो ऋचाओं का कुछ लाभ नहीं। प्रभु को जाननेवाले परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

निष्पाप ब्रह्म

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १९॥

१. **ऋचः**=ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषयभूत ब्रह्म के **पदम्**=ज्ञातव्य स्वरूप को **मात्रया**=जगत् का निर्माण करनेवाली शक्ति से **कल्पयन्तः**=कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष **अर्धर्चेन**=उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमयस्वरूप से इस **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=विश्व को **चाक्लृपुः**=बना हुआ मानते हैं। संसार की रचना में वे प्रभु की बुद्धिपूर्वक कृति व महिमा को देखते हैं। २. **त्रिपात् ब्रह्म**=सृष्टि की 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप' तीन पगों को रखनेवाला ब्रह्म **पुरुरूपम्**=नाना रूपों को धारण करता हुआ **वितष्ठे**=विविधरूपों में स्थित हो रहा है (रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव)। **तेन**=उसी प्रभु के सामर्थ्य से **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ—चारों दिशाओं में स्थित प्राणी **जीवन्ति**=प्राण धारण कर रहे हैं। प्रभु ही सर्वाधार है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखते हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करनेवाले प्रभु ही नानारूपों में इस ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए

हैं। वे ही सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूयवसाद् भगवती

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ २०॥

इस मन्त्र की व्याख्या अथर्व० ७।७३।११ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

एकपदी—नवपदी

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य
पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ २१॥

१. **गौः**=वेदवाणी **इत्**=निश्चय से **मिमाय**=शब्द करती है। यह वेदवाणी इन शब्दों के द्वारा **सलिलानि**=(सति लीनानि) सत् परमात्मा में लीन ज्ञानों को **तक्षती**=हमारे लिए बनानेवाली है। जब हम इन वेदवाणियों को पढ़ेंगे तब ये हमारे अन्दर ज्ञान का निर्माण करती हुई इन शब्दों का उच्चारण करेंगी। इसका एक-एक शब्द हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण बनेगा। **सा**=वह वेदवाणी **एकपदी**=(पद गतौ) उस अद्वितीय परमात्मा में गति-(ज्ञान)-वाली होती है—उस अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। कभी **द्विपदी**=परमात्मा और जीवात्मा—दोनों का साथ-साथ ज्ञान देती है, ताकि उनकी तुलना ठीक रूप से हो जाए और जीव अपने आदर्श को समझ ले। यह वेदवाणी **चतुष्पदी**=जीव के पुरुषार्थभूत 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष' चारों पुरुषार्थों का ज्ञान देती है। २. **अष्टापदी**=शरीरस्थ आठों चक्रों का ज्ञान देती हुई, इन चक्रों के विकास के लिए योग के अङ्गभूत 'यम-नियम' आदि आठों अङ्गों का प्रतिपादन करती है। **नवपदी बभूवुषी**=शरीरस्थ नव इन्द्रिय-द्वारों का ज्ञान देनेवाली होती हुई यह वेदवाणी **सहस्राक्षरा**=हज़ारों रूपों से उस प्रभु को व्याप्त करती है (अक्षर व्याप्तौ)—अनेक रूपों में यह प्रभु का वर्णन करती है। **भुवनस्य पंक्तिः**=(पची विस्तारे) यह ब्रह्माण्ड को विस्तृत करती है—ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती है। **तस्याः**=उस वेदवाणी से ही **समुद्राः अधि विक्षरन्ति**=ज्ञान के समुद्रों का प्रवाह चलता है।

भावार्थ—वेदवाणी अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। जीव व परमात्मा का तुलनात्मक चित्रण करती है। जीव के चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन करती है। शरीरस्थ आठों चक्रों व नौ इन्द्रिय=द्वारों का ज्ञान देती है। प्रभु तथा ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती हुई यह ज्ञान के समुद्रों के प्रवाहवाली है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू ⌈दुः॥ २२॥

१. **कृष्णम्**=(कृष् श्रम का प्रतीक है, ण ज्ञान का) उत्पादक श्रम व ज्ञान से बने हुए **नियानम्**=बाड़े में **हरयः**=इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाले—कर्मेन्द्रियों को उत्पादन श्रम में तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रखनेवाले और इसप्रकार **सुपर्णाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **अपः वसानः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों का धारण करनेवाले लोग **दिवम् उत्पतन्ति**=स्वर्ग

को जाते हैं। २. जब कभी **ते**=वे सत्य-मार्ग पर चलनेवाले लोग **ऋतस्य सदनात्**=सत्य के निवास-स्थान से **आववृत्रन्**=लौट आते हैं, अर्थात् मोक्ष से लौटते हैं तो **आत् इत्**=इसके पश्चात् शीघ्र ही **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से **पृथिवीं व्यदुः**=इस पृथिवी को क्लिन्न कर देते हैं। मोक्ष से लौटने पर ये पृथिवी पर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को ज्ञान व कर्म के बाड़े में प्रत्याहृत करें, अपना पालन व पूरण करें, सदा क्रियामय जीवनवाले हों। मोक्ष से लौटने पर हम ज्ञान-प्रसार के कार्य में ही प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऋत का पालन, अनृत-विनाश

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति॥ २३॥

१. **पद्वतीनाम्**=पाँववाली प्रजाओं में **अपात्**=बिना पाँववाली होती हुई यह ब्रह्मशक्ति **प्रथमा एति**=सर्वप्रथम प्राप्त होती है। शरीरधारी जीव पाँववाले हैं, प्रभु अपात् हैं, परन्तु अपात् प्रभु को कोई पाँववाला जीत नहीं पाता। हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **वाम्**=आपमें से **तत् चिकेत**=उस ब्रह्म को जो जानता है, वह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। २. वह प्रभु ही **गर्भः**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किये हुए **चित्**=निश्चय से **अस्याः**=इस पाँववाली प्रजा की **भारं आभरति**=पोषण क्रिया को सर्वतः सम्यक् धारण करता है। वे प्रभु ही **ऋतं पिपर्ति**=सत्य का पालन करते हैं और **अनृतं निपाति**=अनृत को नीचे रखते हैं। सत्य की विजय और अनृत का पराभव प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—पाँववाली प्रजाओं में अपात् होते हुए भी वे प्रभु प्रथम हैं। प्राणसाधना द्वारा प्रभु का ज्ञान होने पर जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु ही सबका पोषण कर रहे हैं। वे हि ऋत का रक्षण व अनृत का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदापुरस्कृतिर्भुरिगतिजगती**॥

विराट्

विराड्वाग्विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं
भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥ २४॥

१. वह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला प्रभु ही **वाक्**=वाणी है। वही सृष्टि के आरम्भ में इस वेदज्ञान को देता है। **विराट् पृथिवी**=वे विराट् प्रभु ही पृथिवी हैं—सर्वाधार हैं अथवा सर्वत्र प्रथन-(विस्तार)-वाले हैं। **विराट् अन्तरिक्षम्**=वे प्रभु ही अन्तरिक्ष हैं—सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं (अन्तः क्षि निवासे) **विराट्**=ये विराट् प्रभु ही **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पालन करनेवाले हैं। २. **विराट् मृत्युः**=ये विराट् प्रभु ही आचार्य (आचार्यो मृत्युः) हैं, अथवा सबका अन्त करनेवाले हैं। ये विराट् प्रभु **साध्यानाम्**=पर-कार्यसाधक पुरुषों के **अधिराजः बभूव**=अधिराज हैं—सर्वाधिक पर-कार्यसाधक हैं। यह **भूतं भव्यम्**=भूत व भविष्यत् सब **तस्य वशे**=उस विराट् प्रभु के ही वश में हैं। **सः**=वे प्रभु इस **भूतं भव्यम्**=भूत और भव्य को **मे वशे कृणोतु**=मेरे वश में करें।

भावार्थ—विराट् प्रभु की उपासना करता हुआ मैं भी विराट् बनूँ। भूत और भव्य को वश

में करनेवाला होऊँ। मेरा भूत भी सुन्दर हो और भविष्य भी सुन्दर बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धूएँ से अग्नि का ज्ञान

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनाऽवरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ २५॥

१. **शकमयम्**=(शकृन्मयं शुष्कगोमयसंभूतम्) उपलों की अग्नि से उठे हुए **धूमम्**=धूएँ को **आरात् अपश्यम्**=मैंने दूरी पर देखा है और **एना**=इस **विषूवता**=व्याप्तिवाले—चारों ओर फैले हुए **अवरेण**=समीप ही विद्यमान धूएँ से **परः**=(परस्तात् तत्कारणात् तम् अग्निम्) दूर—आँखों से ओझल अग्नि को मैंने जाना है। जिस प्रकार धूएँ को देख मैं अग्नि को जान पाता हूँ, उसी प्रकार यहाँ अपराविद्या में रचना के ज्ञान से रचयिता का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इसप्रकार इस अपराविद्या की अन्तिम सीमा ही पराविद्या हो जाती है। प्रकृति का ज्ञान ही प्रभु के दर्शन में परिणत हो जाता है। २. प्रभु संसारशकट का वहन करनेवाले 'महान् उक्षा' हैं, तो यह जीव इस पिण्ड का वहन करता हुआ 'पृश्नि (अल्पतनू) उक्षा' है। इस **पृश्निम् उक्षाणम्**=छोटे शरीरवाले जीवरूप उक्षा को **वीराः अपचन्त**=ज्ञान शूर आचार्य ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हैं। इसे वे विदग्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **तानि धर्माणि**=ये 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञानों में परिपक्व करना रूप धर्म ही **प्रथमानि आसन्**=मुख्य धर्म हैं। यह ज्ञान ही उसे प्रकृति की रचना में प्रभु की महिमा को देखने के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—धूएँ से जैसे अग्नि का ज्ञान होता है, इसी प्रकार इस सृष्टि-रचना से इसके रचयिता का। व्याप्त विद्यावाले आचार्य जीव को प्रकृति, जीव व प्रभु का ज्ञान देते हैं। यह ज्ञान देना ही मुख्य धर्म है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

त्रयः केशिनः

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ २६॥

१. **त्रयः केशिनः**=तीन प्रकाशमय पदार्थ हैं। 'प्रकृति' तो हिरण्मय पात्र है ही। 'आत्मा' शरीरस्थरूपेण शरीर को दीप्त किये रखता है। प्रभु 'सहस्त्रांशुसमप्रभ' हैं। उनकी ज्योति को योगी ही देख पाते हैं। ज्ञानी लोग **ऋतुथा विचक्षते**=(ऋतु Light, splendour) प्रकाश के अनुसार इनका व्याख्यान करते हैं—शिष्य की योग्यता देखकर उसके अनुसार इनका प्रतिपादन करते हैं। प्रकृति का ज्ञान वे इस रूप में देते हैं कि **एषाम् एकः**=इन तीनों में से एक 'प्रकृति' **संवत्सरे**=उचित काल में बीजोत्पत्ति करती है—एक बीज को साठ बीजों में करके उनका फैलाव कर देती है। '**प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**'—चराचर को यह प्रकृति ही तो उत्पन्न करती है। २. प्रकृति का यह सारा फैलाव प्रभु की अध्यक्षता में हो रहा है। वह **अन्यः**=विलक्षण प्रभु **शचीभिः**=अपनी विविध शक्तियों से **विश्वम्**=इस सारे ब्रह्माण्ड को **अभिचष्टे**=सब ओर से देख रहा है। उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु की अध्यक्षता में इस प्रकृति के फैलाव में ग़लती नहीं होती। तीसरा एक जीव है। इस **एकस्य**=एक जीव की **ध्राजिः ददृशे**=दौड़—चहल-पहल दीखती है, **न रूपम्**=इसका स्वरूप हमारी आँखों का विषय नहीं बनता। चहल-पहल सब जीव की है। 'प्रकृति व परमात्मा' माता-पिता के समान हैं। जीव बच्चों के समान हैं। बच्चों की ही तो चहल-पहल होती है।

भावार्थ—तीन पदार्थ हैं। प्रकृति से इस संसार का फैलाव होता है। प्रभु इस फैलाव को करते हैं। यहाँ जीव की ही चहल-पहल है—वस्तुतः उसी के लिए तो यह संसार बना है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान के चार विभाग

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या ∫ वदन्ति॥ २७॥

१. **वाक्**=(वाचः) वाणी के **पदानि**=प्रतिपाद्य विषय **चत्वारि परिमिता**=चार की संख्या में मपे हुए हैं। 'ऋक् प्रकृतिविज्ञान, यजुः कर्मविज्ञान, साम उपासना व अध्यात्मशास्त्र, अथर्व रोगशास्त्र व युद्धशास्त्र'। **तानि**=उन चारों वेदों को **ये**=जो **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले, आमोद-प्रमोदों की इच्छा से ऊपर उठे हुए **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी व्यक्ति हैं, वे ही **विदुः**=जानते हैं। २. सामान्य मनुष्यों के अन्दर तो **गुहा**=हृदयगुहा में **निहिता**=रक्खे हुए **त्रीणी**=ऋग्यजुः व सामरूप ये मन्त्र **न इङ्गयन्ति**=नाममात्र भी गतिवाले नहीं होते। '**यस्मिन्नृचः सामयजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः**'। ये हम सबके मनों में स्थित हैं। उन्हें प्रसुप्तावस्था से जाग्रदवस्था में लाना मनीषी ब्राह्मणों का ही काम है। **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य तो **वाचः**=वाणी के **तुरीयम्**=चतुर्थांश का ही **वदन्ति**=उच्चारण करते हैं। ये आयुर्वेद व युद्धशास्त्र तक ही सीमित ज्ञानवाले रह जाते हैं।

भावार्थ—हम आयुर्वेद और अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ ज्ञान, कर्म व उपसना' पर बल देते हुए 'चतुष्पाद् ज्ञानवृक्ष' वाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'इन्द्र—मातरिश्वा' प्रभु

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ २८॥

१. **विप्राः**=अपने को विशेषरूप से ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले (वि+प्रा) लोग **एकं सत्**=उस अद्वितीय (पूर्ण स्वतन्त्र) सत्ता को ही **बहुधा वदन्ति**=भिन्न-भिन्न नामों से कहते हैं। **इन्द्रम्**=उस सत्ता को ही 'परमैश्वर्यशाली', **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहमय, **वरुणम्**=श्रेष्ठ, **अग्निम्**=सबसे अग्र स्थान में स्थित **आहुः**=कहते हैं। **अथ उ**=और निश्चय से **सः**=वे प्रभु ही **दिव्यः**=सब ज्योतिर्मय पदार्थों में दीप्त होनेवाले हैं, **सुपर्णः**=पालनादि उत्तम कर्म करनेवाले हैं, **गरुत्मान्**=ब्रह्माण्ड-शकट का महान् भार उठानेवाले हैं। २. उस अद्वितीय सत्ता को ही **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाला, **यमम्**=सर्वनियन्ता, **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त (मातरि अन्तरिक्षे श्वयति) **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' आदि नामों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

॥ इत्येकविंशः प्रपाठकः॥

॥ इति नवमं काण्डम्॥